चिन्तामणि

MAFATLAL
GROUP

• प्राचीन-अर्वाचीन ज्ञान-विज्ञानकी प्रतिनिधि
• पुरुषार्थ-प्रतिपादक
• प्रसन्न-गम्भीर

चिन्तामणि

वर्ष ९ । अंक १
वार्षिक मूल्य : छह रुपये मात्र
एक प्रति : दो रुपया

संस्थापक: अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती जी महाराज

सम्पादक

ब्र० सच्चिदानन्द : विश्वम्भरनाथ द्विवेदी

व्यवस्थापक

सत्साहित्य-प्रकाशन ट्रस्ट
'विपुल', २८/१६ बी० जी० खेर मार्ग
बम्बई-४००००६

वर्ष ९ : अङ्क १

चिन्तामणि
विनयकम

नवम्बर'७४
वर्ष : ९ अङ्क : १

ENGLISH

१. माण्डूक्य-प्रवचन (आगम-प्रकरण)	९.००
२. माण्डूक्यकारिका-प्रवचन (वैतथ्य-प्रकरण)	७.५०
३. माण्डूक्य-कारिका (भा० ३)	४.५०
४. कठोपनिषद् (भाग १)	९.००
५. श्रीमद्भागवत-रहस्य	३.७५
६. भक्ति-सर्वस्व	७.५०
७. सांख्ययोग	९.७५
८. ध्यानयोग	५.००
९. कर्मयोग	६.००
१०. भक्तियोग	६.००
११. विभूति-योग	५.२५
१२. ब्रह्मज्ञान और उसकी साधना	९.७५
१३. अपरोक्षानुभूति	६.००
१४. साधना और ब्रह्मानुभूति	५.२५
१५. नारदभक्ति-दर्शन	९.००
१६. कपिलोपदेश	३.७५
१७. मानव-जीवन और भागवत-धर्म	४.५०
१८. भक्ति-रसायनम् (प्रपा-सहित)	१५.००
१९. व्यवहार और परमार्थ	३.७५
२०. ज्ञान-विज्ञान-योग	५.००
२१. कठोपनिषद् (भाग २)	१२.००
22. Ideal and Truth	4.25

अन्यान्य अनेक पुस्तकोंकी सूची निम्नलिखित पतेसे मँगाइये ।

व्यवस्थापक

सत्साहित्य-प्रकाशन ट्रस्ट
'विपुल' २८/१६
बी० जी० खेर मार्ग, बम्बई—४००००६

नवम्बर'७४
वर्ष : ६ अङ्क : १

स्वस्त्ययन

[ऋग्वेद : मण्डल १०, सूक्त १८६, मन्त्र ३]

ॐ यददो वात ते गृहे-
ऽमृतस्य निधिर्हितः।
ततो नो देहि जीवसे॥

हे वात परमात्मा ! तुम्हारे स्थानमें यह अमृतका निधान प्रतिष्ठित है। उसी निधिमें से तुम हमारे जीवनके लिए अमृतत्व प्रदान करो।

ब्रह्मसूत्र-प्रवचन

(३)

अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्दजी सरस्वती

जो सब प्रकारसे शान्त है वही और केवल वही ब्रह्मज्ञानका अधिकारी है। श्रुतिने इसको इन शब्दोंमें कहा है :

नाविरतो दुश्चरितान् नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥ (कठ० १.२.२४)

'जो पापकर्मोंसे विरत नहीं है, जो इन्द्रियोंकी चञ्चलताके कारण अशान्त है, उपरतिशून्य है, चित्तविक्षेपयुक्त होनेसे असमाहित है, चित्त समाहित होनेपर भी समाधानके फलकी इच्छासे अशान्त है; वह केवल प्रज्ञाके बलपर इस आत्माको नहीं प्राप्त कर सकता।'

इस मन्त्रमें श्रुतिने चार बातें निषेधपद्धतिसे बतायी जो ब्रह्मके जिज्ञासुमें नहीं होनी चाहिए। वैसे प्रकारान्तर से, विधेय-पद्धतिसे विचार करने पर, ये बातें षट्सम्पत्तिके अन्तर्गत ही आ जाती हैं :

१. **नाविरतो दुश्चरितात्** अर्थात् **दुश्चरित्रका त्याग**—दुश्चरित्र अर्थात् श्रुति-स्मृतिसे निषिद्ध पापाचरण तो धर्म, पुरुषार्थकी सिद्धि तथा अन्तःकरणकी शुद्धिमें ही बाधक है; फिर ब्रह्मविचार करनेपर भी क्या होगा? सच तो यह है कि वह ब्रह्मविचार कर ही नहीं सकता; क्योंकि जब कोई श्रुति-स्मृति द्वारा बाँधी गयी मर्यादाको अथवा अपनी स्वोकारकी हुई मर्यादाको तोड़ता है तो उसमें हेतु उसकी वासनाकी प्रबलता होती है, अन्य कुछ नहीं। मर्यादाका अर्थ होता है : **मर्त्यैः आदीयत इति मर्यादा**। अर्थात् जो मरणधर्मा मनुष्य अथवा पशुपक्षी ने स्वीकार किया हो वह मर्यादा है। अब यदि आप अपनी बनायी हुई अथवा स्वोकार की हुई मर्यादाको हो वासनाकी प्रबलतावश तोड़ देते हैं और अशुद्ध कर्म, दुश्चरित्रमें प्रवृत्त हो जाते हैं तो इसो बातका क्या आश्वासन है कि आप ब्रह्मविचारमें ब्रह्मातिरिक्तको ब्रह्म नहीं मान बैठेंगे

अथवा किसी दोषपूर्ण विचारको निर्दोष नहीं मान बैठेंगे ? अतः सत्यके विचारके लिए आपका कर्म धर्मकी मर्यादाके विरुद्ध नहीं जाना चाहिए।

उदाहरणके लिए कामकी बात लें। धर्मशास्त्रमें ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासीके लिए काम पाप है। गृहस्थके लिए अपनी पत्नीके अतिरिक्त अन्य किसी स्त्रीके प्रति काम निषिद्ध है और अपनी पत्नीके प्रति भी सामर्थ्य, काल और युग्मकी प्रसन्नता आदिका विचार अपेक्षित है। कोई भी व्यक्ति यदि इन मर्यादाओंको तोड़ता है तो केवल अपनी काम-वासनाकी प्रबलताके कारण ही तोड़ता है। ऐसा व्यक्ति ब्रह्मविचारका अधिकारी नहीं है।

दुश्चरित्र 'मल' का ही दूसरा नाम है। मल अर्थात् पापकर्म, पापबुद्धि और पाप-वासना। नाविरतो दुश्चरितात् में पापकर्मरूप मलका त्याग है।

२. नाशान्तः—इन्द्रियोंकी चञ्चलतासे उत्पन्न अशान्तिसे रहित। काम-क्रोधादि विकारोंकी प्रबलतासे जो मन और इन्द्रियोंकी अशान्ति है उसका अभाव 'नाशान्तः' पदसे अभिव्यक्त है। ऐसा व्यक्ति न तो कर्माधिक्यसे विरत हो सकता है और न विरत होनेपर शान्तचित्त नहीं हो सकता। इसमें पाप-बुद्धिके साथ असंयम मुख्य हेतु है। इन्द्रियोंको उनके विषयसे न निरोधरूप असंयम तथा राग और द्वेषकी प्रबलता ये ही अशान्तके जन्मदाता हैं। अशान्त चित्तमें त्यागकी सामर्थ्य नहीं होती। काम आया, फिसल गये। क्रोध आया, गाली देने लगे। व्यक्तिसे, सिद्धान्तसे द्वेष हुआ तो सत्य हो छोड़ बैठे !

कुछ भक्त लोग ऐसे होते हैं जो ब्रह्म-नामसे ही चिढ़ते हैं और कुछ ज्ञान-मार्गी ऐसे होते हैं जो राम, कृष्ण आदि नामोंसे चिढ़ते हैं। हम सम्पूर्ण भक्तिके आचार्योंकी बात जानते हैं। द्वैत और अद्वैतके सभी आचार्य 'ब्रह्म' शब्दको परिपूर्ण परमार्थ सत्यका वाचक मानते हैं, भले ही उस सत्यके नाम उन्होंने पृथक्-पृथक् रख दिये हों। किसीने ब्रह्म माने निर्गुण निराकार किया, तो किसीने सगुण-निराकार। किसीने सगुण-साकार तो किसीने राम, कृष्ण अथवा शिव। वाच्यार्थमें भेद होनेपर भी ब्रह्म शब्दका लक्ष्यार्थ अपरिच्छिन्न सच्चिदानन्द अद्वय परमात्मा, सबका एक ही है। अब यदि कोई ब्रह्मशब्दसे ही द्वेष करे तो प्रथम तो वह अपने आचार्यका असम्मान करता है और द्वितीय अपने हृदयमें अशान्ति का बीज बोता है।

'नाशान्तः' में इन्द्रिय-विक्षेपसे उत्पन्न अशान्तिका अभाव है।

३. नासमाहितः—जिसका चित्त समाहित नहीं है वह ब्रह्मविचार नहीं कर सकता। चित्तके विक्षेपकी निवृत्ति 'समाहित' शब्दसे प्रकट होती है। राग-

द्वेषसे उत्पन्न जो चित्तका विक्षेप है उसकी निवृत्तिका नाम 'समाधान' है। चित्तकी सहज चञ्चलताका अभाव समाधान है। चञ्चल चित्त एक दिशामें बँधकर विचार नहीं कर सकता।

४. नाशान्तमानसो वापि—प्रश्न यह है कि "ठीक है आपमें दुश्चरित्र भी नहीं है, आपकी इन्द्रियाँ भी शान्त हैं, चित्त भी शान्त है और ब्रह्मविचारमें प्रवृत्त भी हैं परन्तु क्या आप सत्यके विचारका फल सत्य ही चाहते हैं या 'कुछ और' भी ?" यह 'कुछ और' क्या हो सकता है ? क्या आप चाहते हैं कि ब्रह्म-विचारसे आप पानीपर चल सकें, आकाशमें उड़ सकें, दूसरेके मनकी बातें जान लें अथवा अणिमा आदि अन्य कोई सिद्धि ? यदि चाहते हैं तो इस फलेच्छाका विक्षेप आपको 'अशान्तमानस' बना देगा और ब्रह्मविचार के अधिकारसे च्युत हो जायँगे। यदि कोई जज किसी मुकदमेमें निर्णय करनेवाला हो, वह पूर्व और उत्तर दोनों पक्षोंको सुन चुका हो और उसमें निर्णय करनेकी योग्यता भी हो परन्तु तभी उसके मनमें घूस (Bribe) का लोभ आ जाय तो क्या वह यथार्थ निर्णय दे सकेगा ? स्पष्ट है कि नहीं दे सकता। इसी प्रकार सिद्धियोंका लोभ जिज्ञासुको लक्ष्यसे भटका देता है।

जिसमें उपर्युक्त चार दोष हों, वह ब्रह्मज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता, भले ही वह शास्त्र-वार्तामें निपुण हो, युक्ति एवं तर्क-वितर्कमें पटु हो। कुतर्क या तर्क-वितर्कसे ब्रह्म प्राप्त नहीं होता; क्योंकि तर्कका कोई लक्ष्य नहीं होता तथा तर्कमें कोई स्थिरता नहीं होती। तर्क तो दाँये बाजू और बाँये बाजू दोनों ओर हो सकता है और आजका तर्क अभी नहीं तो कल, अधिक विद्वान् व्यक्ति काट सकता है। इसीलिए ब्रह्मसूत्रमें तर्ककी अप्रतिष्ठाकी बात कही गयी है। श्रुतिमें भी नैषा तर्केण मतिरापनेया आदि वाक्य कहे गये हैं। भर्तृहरिने भी कहा है :

यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः।
अभियुक्ततरैरन्यै - रन्यथैवोपपाद्यते ॥

(वाक्यपदीय १.३४)

तर्क 'एक' वस्तुका साक्षात्कार नहीं करा सकता। हाँ 'अनक्य' ही जिनका लक्ष्य हो कि तर्कसे चाहे जो सिद्ध हो सकता हो, चाहे पहाड़पर चढ़ें चाहे खड्डेमें गिरें, उनको तर्कसे, केवल बुद्धिसे, कुछ प्राप्त हो सकता हो तो हो। परन्तु अध्यात्ममें जिसको एक ब्रह्म ही इष्ट है, उनके लिए तर्कके स्थानपर पूजित-विचार अथवा मीमांसा ही अपेक्षित है। उसमें बुद्धिके साथ-साथ बुद्धिकी शोधक सामग्री, बुद्धि-विचारकी प्रणाली और लक्ष्योन्मुखता—सभी अपेक्षित हैं।

अबतकके विवेचनसे स्पष्ट हो गया कि आत्मा-अनात्माका विवेक, वैराग्य और षट्सम्पत्तिसे मण्डित तथा मल-विक्षेपसे रहित ब्रह्मतत्त्वका जिज्ञासु ब्रह्म-विचार-का अधिकारी है। इसके अधिकारकी पूर्णताका अन्तिम चरण मुमुक्षा है जो चौथी साधन-सामग्री है।

मुमुक्षाका अर्थ है : मोक्षकी इच्छा। मोक्षमें पानेकी इच्छा उतनी नहीं जितनी छूटनेकी होती है। अतः मुमुक्षाका अर्थ है संसार-बन्धनसे छूटनेकी इच्छा, निर्बन्ध होने की इच्छा। जिसे अपना बन्धन नहीं दीखता अथवा जो बन्धनको बन्धन ही नहीं मानता, वह मोक्षकी इच्छा क्यों करेगा? जैसे कोई जेलमें बन्द हो और जेलमें बन्द होनेका उसे कोई ज्ञान अथवा दुःख न हो, तो क्या वह व्यक्ति उस जेलसे छूटनेकी इच्छा करेगा अथवा उसके लिए प्रयत्न करेगा? स्पष्ट है, नहीं करेगा। अतः जो संसारके सुखोंमें सुखी है अथवा जो सांसारिक दुःखको दुःख ही नहीं मानता, वह मुमुक्षु नहीं हो सकता। मुमुक्षा होनेके लिए सुखका विवेक तथा बन्धन की मीमांसा करना आवश्यक होता है।

सुखका विवेक यह है कि सुख सदैव आत्मनिष्ठ होता है। जो सुख पड़ोसीके घरमें रहता है अथवा वहाँ रख दिया जाता है वह सुख नहीं हो सकता। अन्यसे उत्पन्न, अन्यसे संरक्षित तथा अन्याश्रित सुख सुख नहीं दुःखका पूर्वरूप ही होता है। पराधीन सुख-दुःख ही है। विज्ञान, मन, प्राण, देह और विषय इन सबका सुख पड़ोसीके घरमें रखा हुआ सुख है जो उपलब्धि, भोग और नाशमें दुःखका ही सर्जन करता है।

पुनश्च, आत्मनिष्ठ सुख भी तभी सुख है, जब आत्माकी अल्पताकी भ्रान्ति नष्ट हो जाती है तथा आत्माको भूमा जान लेते हैं।[1] दूसरे शब्दोंमें आत्माकी ब्रह्मरूपताका ज्ञान ही सुख है। अतः सुखानुभूतिमें मुमुक्षुके लिए विवेक यह है कि जो ब्रह्म नहीं है, वह अनित्य है, असत् है, जड़ है, दुःखरूप है; उस वस्तुसे प्राप्त होनेवाला सुख मिथ्या है, प्रतीयमान होनेपर भी पुरुषार्थके योग्य नहीं है।

मिथ्यात्वके सम्बन्धमें चार बातोंपर विचार आवश्यक होता है : (१) प्राग-भाव=प्राक्+अभाव। प्रत्येक दृश्यमान वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति अपनी प्रतीतिसे पूर्व अभावरूप होती है। अर्थात् प्रत्येक दृश्य वस्तु अपने प्रागभावकी प्रतियोगी होती है। (२) प्रध्वंसाभाव=प्रध्वंस+अभाव। प्रत्येक वस्तु अपनी प्रतीतिके अनन्तर अभावरूप हो जाती है। अर्थात् प्रत्येक दृश्य वस्तु अपने प्रध्वंसाभावकी प्रतियोगी होती है। (३) प्रत्येक दृश्य किसी चेतन द्रष्टाका

१. यो वै भूमा तत्सुखम्। नाल्पे सुखमस्ति। (छान्दोग्य उपनिषत्)

विषय होता है; तथा उसका आश्रय चेतन होता है। और (४) एक दृश्यका दूसरे दृश्यसे भेद होता है। इस प्रकार :

१. प्रत्येक दृश्य काल-बाधित होता है; क्योंकि उसका प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव होता है।

२. प्रत्येक दृश्य देशबाधित होता है; क्योंकि उसका आश्रय और द्रष्टा उससे भिन्न होता है।

३. प्रत्येक दृश्य वस्तु-बाधित होता है; क्योंकि एक दृश्य दूसरेसे भिन्न होता है।

अब ब्रह्म देश, काल और वस्तुसे अपरिच्छिन्न है। अतः कोई भी भाव, अभाव, अथवा भावाभाव ब्रह्म नहीं हो सकता। तब उनसे प्राप्त सुख ब्रह्म-सुख नहीं हो सकता। इसीलिए मुमुक्षु उसकी प्राप्तिमें प्रवृत्त नहीं होता।

जो लोग कर्म-प्रधान साधन करते हैं, वे कर्मके बलपर सुखारोहण तो करते हैं परन्तु कर्म-शक्तिके क्षीण होनेपर पुनः यथापूर्व स्थितिमें लौट आते हैं। ठीक इसी प्रकार जैसे जब एक पत्थरके टुकड़ेको कुछ बल लगाकर ऊपर फेंका जाता है तो वह उस बलके अनुसार यथोचित ऊँचाई प्राप्त तो कर लेता है, परन्तु उस बलकी सीमा समाप्त होनेपर पुनः धरतीपर लौट आता है। इस प्रकार कर्मसे प्राप्त हानेवाला सुख अनित्य होनेसे ब्रह्म नहीं है।

जो लोग भाव-प्रधान साधन करते हैं, वे इष्टके लोकमें जाकर सुखी होना चाहते हैं। वे अपने सुखको देशमें बाँधकर उसे देशपरिच्छिन्न बना देते हैं। वह भाव-सुख भी ब्रह्म नहीं है।

कुछ लोग अलाकाकाशमें अथवा अपने अन्तर्देशमें सुखका अनुसंधान करते हैं। वह भी देश-परिच्छिन्न होनेसे ब्रह्म नहीं है।

कल्पना अथवा विचारका सुख भी ब्रह्म-सुख नहीं है। सब सुखोंमें कुछ न कुछ प्रतिबंध बना है। अतः इनमेंसे कोई ब्रह्म-सुख नहीं है। ब्रह्म वह है जो कल्प्य देश, काल, वस्तु और उनकी कल्पनाका अधिष्ठान एवं प्रकाशक है।

इस प्रकार मुमुक्षुओंके लिए समाधिका सुख, दिव्य लोक-लोकान्तर तथा उनके अधिष्ठातृ देवताओंके दर्शन, विज्ञान और शक्तिका सुख, कर्मजन्य सुख—सभी उपेक्षणीय हैं; क्योंकि इनसे प्राप्त ईश्वर पूर्ण नहीं है, कटा-पिटा है, परिच्छिन्न है, अपरिच्छिन्न नहीं, ब्रह्म नहीं। यदि ईश्वर ऊपर रहता है और नीचे नहीं रहता तो वह ईश्वर आधा है। यदि ईश्वर भीतर रहता है और बाहर नहीं है अथवा बाहर रहता है और भीतर नहीं है, तो वह ईश्वर आधा

है। जो ईश्वर पहले था, अब नहीं है अथवा जो अब है, आगे नहीं रहेगा वह भी आधा है। जो ईश्वर 'मैं' है, 'यह' नहीं है, अथवा जो 'यह' है परन्तु 'मैं' नहीं, वह भी आधा है। आधा ईश्वर ब्रह्म नहीं होता। परिपूर्ण ईश्वर ही ब्रह्म है। ऊपर-नीचे, बाहर-भीतर, आगे-पीछे, आज-कल, यह, मैं, सब कुछ ब्रह्म है। सजातीय, विजातीय, स्वगतभेद-शून्य प्रत्यक् चैतन्याभिन्न, जगत्का अभिन्न निमित्तोपादान कारणरूप विवर्ती अधिष्ठान ब्रह्म है।

ब्रह्म, ज्ञान, सुख तथा मोक्ष—ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। मोक्षके जिज्ञासु-को ब्रह्मसे अतिरिक्त कोई भी सुख आकृष्ट नहीं करता, क्योंकि उसकी प्यास सुखकी नहीं है, अपितु अबाधित सद्-वस्तु अर्थात् ब्रह्मके ज्ञानकी है, अपने बन्धन काटनेकी है।

भोगमें पराधीनता है। कोई भी भोग पराधीन हुए विना नहीं भोगा जा सकता। स्त्री-भोगमें स्त्रीकी पराधीनता है। वस्तु-भोगमें वस्तु तथा देहकी पराधीनता है। भोगमें कालकी पराधीनता है और भोगके कारण इन्द्रियोंकी पराधीनता भी है।

कर्म वासनामें समाज, सरकार, सामग्री, सामर्थ्य आदिकी पराधीनता है। वासनाका विषय नाशवान् है। वासनाका करणकालके प्रभावसे सामर्थ्यहीन हो जाता है। मनमें सदैव वासनाके विषयके प्रति रुचि नहीं रहती। भोक्तापन सदैव जाग्रत् नहीं रहता। उदाहरणार्थ, वह सुषुप्तिमें सो जाता है। तब वासना-जन्य सुखका परिपाक तो बन्धन ही है। वह मोक्ष-सुख नहीं है। अतः मोक्षार्थी-को वैराग्य चाहिए।

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात्।

मोक्षकी इच्छा कोई बच्चोंका खेल नहीं है। उसमें कुछ पानेकी इच्छा नहीं है, केवल बन्धनसे छूटनेकी इच्छा है। बन्धन और पराधीनतासे ही छूटना यहाँ अपेक्षित नहीं होता, यहाँ तो 'पर' से ही छूटनेकी चाह होती है। प्रायः लोग सुख चाहते हैं तथा मोक्षको महान् सुखका आश्रय मानते हैं। परन्तु यहाँ मोक्षमें सुखकी चाह प्रधान नहीं है; प्रत्युत सुखके प्रतिबंधोंकी निवृत्ति प्रधान है; क्योंकि सुख तो आत्माका स्वरूप ही है :

अज्ञानहृदयग्रन्थिमोक्षो मोक्ष इतीरितः।

'मोक्ष किसी ग्राममें नहीं बसता। हृदयकी अज्ञानग्रन्थिके भेदनका नाम ही मोक्ष है।'

ब्रह्मका ज्ञान प्राप्त करना नहीं है। ब्रह्ममें बैठना नहीं है। 'अहमज्ञः, अहं-मब्रह्म' इत्याकारक अपरोक्ष भ्रमकी निवृत्ति ही कर्तव्य है। यही अज्ञानका छेदन है। यही मोक्ष है। ये दो अंगुलियाँ हैं। इनमें 'एक' और 'दो'—यह जो क्रम अनुभव होता है वही काल है। क्रमकी संवित्को नाम काल है। यह जो अंगुलियों-के बीच पोल है, आकाश है, उसमें जितना स्थान ये अंगुलियाँ घेरे हुए हैं, वह देश है। दैर्घ्य विस्तारकी संवित्का नाम देश है। और ये जो अंगुलियाँ स्वयं हैं, हड्डी-मांसकी, द्रव्यात्मक, वह वस्तु है। ये देश, काल और वस्तु तीनों और इनका भेद, अन्तर, अभाव, कहाँ दीखता है? किसमें दीखता है? किसको दीखता है? कब दीखता है? श्री उड़ियाबाबाजी महाराज कहा करते थे कि यह सम्पूर्ण प्रपंच अपने अभावमें ही दीखता है। देश देशाभावमें दीखता है; काल कालाभावमें दीखता है; वस्तु वस्त्वभावमें दीखती है और देश काल-वस्तुका भेद, भेदाभाव अभेदमें दीखता है। वह अभेदस्वरूप अधिष्ठान ब्रह्म चैतन्य होनेसे आत्मासे अभिन्न है, अतः ब्रह्म-चैतन्यमें ही आत्म-चैतन्यको ये देश काल-वस्तु और इनका भेद बिना हुए ही प्रतीत हो रहा है। चैतन्यमें आत्मत्व और ब्रह्मत्वके भेदका कोई निमित्त नहीं।

इस प्रकार विवेक, वैराग्य षट्सम्पत्ति और मुमुक्षासे सम्पन्न जिज्ञासु ही ब्रह्मज्ञानका अधिकारी है। इसी अधिकार-सम्पादनके अनन्तर ब्रह्म-जिज्ञासा करणीय है। सूत्रके 'अथ' शब्दका अर्थ यही 'आनन्तर्य' है।

आप कहेंगे कि वेदान्तका यह अधिकार (साधनचतुष्टय-सम्पत्ति) तो अत्यन्त कठिन है। संसारमें कदाचित् ही कोई वेदान्तका अधिकारी मिले। इस सम्बन्धमें कई भ्रम हैं और कई बाधाएँ हैं। उनकी थोड़ी चर्चा यहाँ करना आवश्यक है।

प्रथम तो, प्रत्येक व्यक्तिको ब्रह्मज्ञानका अधिकार है। जब गीताके अनुसार पापीसे पापी भी ज्ञानकी नौकापर बैठकर भवसागरसे तर सकता है तो साधारण अथवा पुण्यवानोंकी तो बात ही क्या है?

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥ (गीता ४.३६)

अतः अपने भूतमें किये गये पापोंकी चिन्ता छोड़ दो। वर्तमानमें सावधान रहो, और भविष्य तो वर्तमानमें आकर ही प्रत्यक्ष होता है।

अब रही साधनचतुष्टयकी बात! देखो, यह सम्पत्ति तो आपमें इसी क्षण उपस्थित है। आप घर-बार छोड़कर घण्टेभरको यहाँ वेदान्त सुनने आये हैं,

कुछ मनमें विवेक है, वैराग्य है, तभी आये हैं। यहाँ न कोई इन्द्रियभोग है, न काम-धंधा; चुपचाप बैठे हैं। अतः शम, दम, उपरति आपके पास ही है। कड़े फर्शपर घंटेभर बैठते हैं, बिजली चली जानेपर गर्मी भी सहते हैं, अतः तितिक्षा भी हो गयी। नीचे बैठकर सुनते हैं, श्रद्धा है। आपका मन यहाँ मनोराज्य भी नहीं करता, अतः समाधान भी आपको प्राप्त है। वेदान्तकी बात सुनकर आपके मनमें मोक्षकी आकांक्षा जागती है, अतः मुमुक्षा हो गयी। इस समय आप साधन-चतुष्टयसे सम्पन्न हैं, अतः आप वेदान्तश्रवणके अधिकारी हैं।

यदि कहें यह अधिकार तो क्षणिक है, सत्संगसे बाहर जाकर नहीं रहता? तो आप इसको नियमसे अपने जीवनमें प्रतिदिन एक घंटेके लिए अपना लीजिये। कालान्तरमें यही अधिकार स्थायी हो जायगा।

एक सामान्य शंकाका निराकरण भी आवश्यक है। लोग कहते हैं कि 'ये वेदान्ती लोग रात-दिन संसारको मिथ्या कहते रहते हैं, परन्तु संसार है कि सबके सिरपर सवार रहता है।' इस बातको तनिक ध्यानसे समझिये। जैसे किसी आदमीने आपसे कहा: 'कल सूर्य पृथ्वीपर उतर आया था।' आप तुरन्त उस आदमीको झूठा, मिथ्यावादी कहेंगे। परन्तु आपके 'झूठ', 'मिथ्या' शब्दों-का क्या अर्थ है? आपका अर्थ उस व्यक्ति द्वारा बोले गये वाक्यार्थको झूठा कहनेमें है, परन्तु इसमें नहीं कि उस आदमीने कोई बात कही ही नहीं। यहाँ उस आदमीका बोलना मिथ्या नहीं है, उसका अर्थ मिथ्या है। इसी प्रकार वेदान्ती जगत्‌की ऐन्द्रियक प्रतीतिको मिथ्या नहीं कहते, अपितु उसके अर्थको मिथ्या कहते हैं। आकाशमें नीलिमा प्रतीत होती है, परन्तु आकाशके स्वरूपमें नीलिमा न होनेसे वह मिथ्या है। जहाँ जो वस्तु न हो और दिखायी पड़े, वहाँ वह वस्तु मिथ्या होती है। आकाशमें पूर्व-पश्चिम मिथ्या हैं, यद्यपि व्यवहार्य हैं। यह जो जगत् प्रतीत हो रहा है, वह हमारी प्रतीतिका विषय है और उस प्रतीतिका प्रकाशक आत्मा है। वेदान्त कहता है कि प्रतीतिका प्रकाशक और आश्रय (अधिष्ठान) एक ही अपरिच्छिन्न ब्रह्म चेतन है। अतः प्रतीत होने पर भी, व्यवहार्य होने पर भी, मिथ्या है; क्योंकि प्रतीति ब्रह्माभिन्न है और ब्रह्मके स्वरूपमें ब्रह्मातिरिक्त कोई वस्तु नहीं है।

एक शंका यह भी होती है कि वेदान्त कहता है 'अपने आपको जानो।' अपने आपको तो सभी जानते हैं। फिर भी जीवनमें अनर्थ तो है। अतः अपने आपको जाननेसे क्या लाभ है! इसमें भी थोड़ा संशोधन कर लीजिये। वेदान्त यह नहीं कहता कि 'अपने आपको जानो'। वह कहता है 'अपने आपको ब्रह्म

जानो'। अनर्थका मूल अपना अज्ञान नहीं है। अपने आपको तो किसी न किसी रूपमें सभी जानते हैं। न जानते तो मोटा आदमी पतला होनेका क्यों प्रयत्न करता? गरीब आदमी धनी होने होनेका क्यों प्रयत्न करता? अतः अनर्थका मूल सामान्य अज्ञान नहीं है, अपितु अपनी आत्माके ब्रह्मत्वका अज्ञान है। संसारके रहनेसे, उसके प्रति व्यवहारसे, देहके रहनेसे तथा उसके प्रति व्यवहारसे, कुछ हानि-लाभ नहीं है। अनर्थ तो अपने ब्रह्मत्वके अज्ञानसे निकलता है। किसीको सुषुप्ति समाधि बन जाय, स्वप्न वैकुण्ठ हो जाय तथा जाग्रत् स्वर्ग हो जाय तो भी उससे ब्रह्मका ज्ञान नहीं होता। ब्रह्म-ज्ञानका लक्ष्य कोई परिस्थितिविशेष अथवा सुखविशेष उत्पन्न करना नहीं है। ब्रह्मज्ञानका लक्ष्य तो केवल आत्माके ब्रह्मत्वके अज्ञानका नाश है। कोटि-कोटि स्वर्ग, वैकुण्ठ और समाधियाँ, कोटि-कोटि जाग्रदादि अवस्थाएँ, कोटि-कोटि अल्प-महान् वस्तुएँ जिस एक ब्रह्म-चैतन्य-सागरमें उदय हो होकर अस्त हो रही हैं, वह अपरिच्छिन्न ब्रह्म आप हैं—ऐसे ज्ञानका उपदेश वेदान्त करता है।

श्रुतिने कहा : **आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः** अर्थात् आत्माका दर्शन करो। दर्शन कैसे करें, तो कहा : **श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः**। अर्थात् 'उसका श्रवण, मनन, निदिध्यासन करो' अर्थात् विचार करो। विचार क्यों करें, किस प्रयोजनके लिए करें? विचार तो तभी होता है जब उसके विषयमें सन्देह हो या उससे कोई प्रयोजन सिद्ध होता हो। तो, आत्मा स्वतःसिद्ध होनेपर भी उसके ब्रह्मत्वमें सन्देह है; क्योंकि श्रुति **तत्त्वमसि** आदि महावाक्योंसे आत्माको ब्रह्म बताती है परन्तु वर्तमानमें अनुभव तथा अनेक श्रुतियाँ भी इसके विरुद्ध प्रतीत होती हैं। दूसरे, सुख सभीको किसी न किसी रूपमें अनुभूत हैं—विषय-सुख जाग्रत् और स्वप्नमें तथा निर्विषय सुख सुषुप्ति अथवा समाधिमें। यह भी अनुभूत है कि विषय-सुख श्रम-साध्य और पराधान है तथा सभी सुख कालबाधित हैं। अतः सभी व्यक्ति ऐसा सुख चाहते हैं जो देश, काल, वस्तुके पराधीन न हो, श्रमसाध्य न हो। श्रुति ब्रह्मको **आनन्दम् ब्रह्म** कहती है। अतः आत्माको ब्रह्मरूप जाननेमें परमानन्दकी प्राप्तिरूप प्रयोजन भी है। इस प्रकार ब्रह्मका विचार (जिज्ञासा) करना ही चाहिए। अतः पदके अर्थमें यह प्रयोजन निहित है।

खण्ड-खण्ड देशोंमें जो उपस्थित रहे वह देश ही है और खण्ड-खण्ड कालोंमें जो उपस्थित रहे वह काल ही है। परन्तु जो समूचे देश और कालका अधिष्ठान है वह न देश है और न काल। अतः ब्रह्मज्ञानमें व्यापकताका अनुसन्धान नहीं है, अधिष्ठानका अनुसन्धान है।

आत्माको ब्रह्म जानना ऐसा भी नहीं है जैसे १०० रुपयोंके ज्ञानसे १ रुपया-का ज्ञान होना। अथवा ऐसा भी नहीं है, जैसे महाकाशके ज्ञानसे घटाकाशका ज्ञान होना। अर्थात् आत्मा और ब्रह्मका अल्प और महान्‌का द्वैत-सम्बन्ध नहीं है। जो आत्मा है वही ब्रह्म है और जो ब्रह्म है वही आत्मा है। वह ब्रह्म समस्त देश-काल-वस्तुके परिच्छेदोंसे रहित, उनके भावाभावका प्रकाशक प्रत्यक् चैतन्या-भिन्न आत्मा है। यही ब्रह्मज्ञान है।

'ज्ञान' का कोई प्रयोजन नहीं होता; क्योंकि वह तो सदैव एकरस रहता है। परन्तु शुद्ध अन्तःकरणमें जो 'तत्त्वमसादि महावाक्यजन्य अखण्डार्थधी उत्पन्न होती है वह उस अन्तःकरणमें स्थित अन्तःकरणके प्रकाशक चैतन्य आत्माका अज्ञानावरण भङ्ग कर देती है और स्वयं भी उसी ज्ञानस्वरूप अधि-ष्ठानसे एक हो जाती है, अर्थात् आत्मरूप हो जाती है। ऐसी स्थितिमें अज्ञानजन्य समस्त त्रिविध तापोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है तथा प्रतिबन्धोंकी निवृत्तिके कारण स्वरूपभुत परमानन्द निर्बाध रूपसे स्फुरित होने लगता है। यही मोक्ष है जो अतः पदका अर्थ है।

जब हम मोक्षका स्वरूप 'अनर्थकी निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति' कहते हैं, तो ऐसा वासनाओंके समूहीकरण अथवा एक तत्त्वके प्रति अभिमुखीकरण-के लिए ही कहते हैं। वस्तुतः अविद्या-निवृत्ति ही मोक्ष है।

अविद्या-निवृत्ति ही मोक्ष क्यों? जो वस्तु देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न होगी वह प्रत्येक देश, प्रत्येक काल और प्रत्येक वस्तुमें वर्तमान होगी। इसलिए अपरिच्छिन्न ब्रह्म भी सर्वदेशमय, सर्वकालमय, सर्ववस्तुमय होना चाहिए और इनसे अतीत भी! तब वह, यह, मैं, का परिच्छेद भी ब्रह्ममें नहीं होगा। अतः ब्रह्म अभी है, यहीं है और आपका 'मैं' है। वह सर्वदा, सर्वत्र विद्यमान है। उसकी अप्राप्तिका केवल भ्रम ही होता है। यह भ्रम अपनी आत्माके ब्रह्मस्वरूपके अज्ञानसे ही होता है। अतः आत्माको ब्रह्म जान लेनेपर, अज्ञानके नष्ट होते ही ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है। ब्रह्मकी प्राप्ति अप्राप्त वस्तुकी प्राप्ति नहीं है, अपितु नित्यप्राप्त वस्तुको अप्राप्तिके भ्रमकी निवृत्तिरूप है।

अनर्थका मूल विषयके ज्ञाता और आश्रयके भेदमें तथा ज्ञाताके भोक्तृत्व-कर्तृत्व-संसारित्वमें होता है। आत्माको ब्रह्मरूप जाननेसे इस मूल अनर्थकी निवृत्ति हो जाती है, क्योंकि ये सब परिच्छिन्नताका ही परिवार है। तब सम्पूर्ण अनर्थोंकी निवृत्तिपूर्वक परमानन्दस्वरूप ब्रह्मकी प्राप्ति अथवा मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है; ऐसा कहा जाता है। यही 'अतः' पदका अर्थ है। अविद्याकी निवृत्तिसे उपलक्षित आत्मा ही मोक्ष है।

तीर्थंकर भगवान् श्रीमहावीरकी २५००वीं
निर्वाण-शताब्दीके उपलक्ष्यमें :

महावीर वचनामृत

जो एकको जानता है वह सबको जानता है और जो सबको जानता है वह एकको जानता है।

(आचारांग-सूत्र)

× × ×

ज्ञानके समग्र प्रकाशसे, अज्ञान और मोहके विवर्जनसे और राग-द्वेषके क्षयसे आत्मा एकान्तसुखस्वरूप मोक्षको प्राप्त करता है।

जैसे कुशके अग्रभागपर ओसकी बूँद अपनी शोभाको धारण किये थोड़े कालपर्यन्त ठहरती है, वैसे ही मनुष्यका जीवन भी अल्प समय-तक स्थिर रहता है। ऐसा समझकर हे गौतम, सूक्ष्मतम कालका भी प्रमाद मत कर।

इस संसारमें प्राणिमात्रको मनुष्यजन्म, धर्मका श्रवण, सम्यक् श्रद्धा और संयम-चारित्रमें प्रवृत्ति, इन चार उत्तम अंगोंकी प्राप्ति होना अत्यन्त दुर्लभ है।

(उत्तराध्ययन-सूत्र)

× × ×

क्रोधसे प्रीतिका नाश होता है, अभिमानसे विनयका नाश होता है, कपटसे मित्रताका नाश होता है और लोभसे सभी सद्गुणोंका नाश होता है।

शान्तिसे क्रोधको, नम्रतासे मानको, सरलतासे कपटको एवं सन्तोष-से लोभको जीतना चाहिए।

(दशवैकालिक-सूत्र)

× × ×

प्राणिमात्रको अपनी जिन्दगी प्यारी है। सुख सबको अच्छा और दुःख बुरा लगता है। सबको वध अप्रिय है और जीवन प्रिय है। इसलिए किसी भी प्राणीकी हिंसा न करो।

(आचारांग-सूत्र)

●

उपदेश क्यों ?

(प्रतिवादिभयंकर श्रीमदण्णंगराचार्यके संस्कृत निबन्धकी छाया)

अनु० : महाराजश्री

श्रीशठकोप मुनीन्द्रने अपने दिव्य-प्रबन्धमें प्रथम दस गाथाओंमें परमपुरुषकी अनुभूतियोंका वर्णन किया है। स्वयं भगवान् नारायण अपनेको पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चाविग्रहके रूपमें पञ्चधा प्रकाशित करके देदीप्यमान हो रहे हैं। उनकी दिव्य रसानुभूतिके पश्चात् स्वयं दूसरोंके प्रति उपदेशमें प्रवृत्त होना कैसे सम्भव हुआ? क्या उन्होंने अनुभूत विषयकी सीमा प्राप्त कर ली अथवा उनके मनमें वैराग्य हो गया कि अब अधिक अनुभव करके क्या करेंगे? जब मुनिवर स्वयं ही परमेश्वरको असीम कहते हैं तब उनकी सीमा देख ली, यह कल्पना सर्वथा असंगत है। उस परम मधुमयी रसानुभूतिसे वैराग्य हो गया, ऐसा कहना भी अपराध है। परमेश्वरकी अनुभूतधारा प्रतिक्षण वर्धमान होती है। ऐसी अवस्थामें क्या उनके मनमें आचार्यपदवाकी अभीप्सा प्रकट हो गयी? दैन्य एवं विनयकी मूर्ति, परमेश्वरकी एक कणाके रूपमें अपनेको प्रतिक्षण अधमाधम अनुसंधान करनेवाले महामुनिके मनमें पदप्रेप्सा अथवा लिप्साका उदय ही कैसे हो सकता है? यह ध्यान रखना चाहिए कि उपदेशके समय भी इनके अनुभवमें कोई त्रुटि नहीं आती। उनका उपदेश भी स्वानुभूतिका ही परिपाक-दशा है।

जब मनुष्यको किसी प्रवाहवती विशाल जलधाराको पार करना होता है तो वह चाहता है कि हमारे साथ और लोग भी रहें। एकाकी वेगवती धारामें उतरना भयावह है। भगवान्‌की अनन्त रसधारामें एकाकी अवगाहन करना भी दुष्कर है। स्वादु भोजन भी अकेले नहीं करना चाहिए। श्रीकृष्ण कहते हैं: मन-बुद्धि मुझमें, प्राण मैं। परस्पर समझाते-बुझाते हुए आगे बढ़ो। भक्तोंको भक्तोंका संग अपेक्षित है। मुनिवरने उत्तमाधिकारी भक्तोंके साथ मिलकर भगवद्रसकी अनुभूति करनेके लिए

साधारण मनुष्योंपर भी दृष्टि डाली। हाय, हाय! संसारी लोग दुःखमय अपार संसार-पारावारमें डूब-उतरा रहे हैं, 'खाओ - पीओ - मौजकरो'में भटक रहे हैं, भगवान्‌को भूलकर दूसरी वस्तुओंको उच्छृङ्खल भावसे चाह रहे हैं, भगवद्रुचिका लोप हो रहा है। जनताके इस क्लेशको वे नहीं सह सके। उन्हें भगवान्‌के पथका पथिक बनानेका कौतूहल उत्पन्न हुआ। वे विचार करने लगे—ये भला कैसे चेतन हैं! ये विषय-भोगमें भी विवेक करते हैं कि बुरेको छोड़कर अच्छेको ग्रहण करो, कड़वेको छोड़कर मीठा खाओ। परन्तु भगवान्‌के सम्बन्धमें अपनी पूर्ण विवेक-शक्तिका उपयोग नहीं करते। यदि वैसा करें तो अनायास ही ये महात्माओंके मार्गपर चलने लगेंगे। यदि इनके सामने हम यह प्रतिपादन करें कि भगवान् बड़े रसीले और भोग-योग्य हैं, साथ ही दूसरे विषय अनित्य जड़ और दुःखसे परिपूर्ण हैं, तो निश्चय ही ये विषय-भोगसे विमुख होकर भगवद्भजन करने लगेंगे। मुनिवर मन-ही-मन ऐसी आलोचना करके भगवान्‌के भजनकी श्रेष्ठता और संसारप्रेमकी निकृष्टताका प्रतिपादन-अपनी दिव्यसूक्तियोंमें करते हैं।

उपनिषदोंमें ज्ञानके अधिकारीका निरूपण है: 'परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान्' इत्यादि। गीतामें अधिकारीमें प्रणिपात, परिप्रश्न, सेवा आदि सद्गुणोंका होना आवश्यक बतलाया है। ये मुनिवर न श्रोताका अधिकार देखते हैं, न लक्षणकी परीक्षा करते हैं। जो गोपनीय विषय छह कानोंतक पहुँचने योग्य नहीं हैं उनको भी साधारण विषयके समान वर्णन करने लगते हैं। ऐसा क्यों? अच्छा सुनिये। क्या मुनिवरका भक्तिभूमा किसी मर्यादाके अन्तर्गत है? नहीं। ठीक इसी प्रकार उनका उपदेश भी किसी मर्यादाके अन्तर्गत नहीं है। आचार्यगण शिष्यकी सेवासे प्रसन्न होकर उपदेश करते हैं। अपने शिष्यको अनर्थसे बचाते हैं। परन्तु ये महात्मा तो देखो, सबसे आगे बढ़कर बिना किसी योग्यताकी अपेक्षा किये ही सर्वसाधारणको भक्तिरसका आस्वासदन कराते हैं।

उत्तम पुरुष चार कारणोंसे उपदेशकी प्रवृत्तिमें लगते हैं:

१. उनको यह अनुसन्धान होता है कि स्वयं भगवान्‌ने हमें लोगोंको उपदेश करनेके लिए ही भेजा है।

२. शिष्यगण प्रार्थना करते हैं कि हमें उपदेश कीजिये।

३. कोई प्रार्थना न करे तब भी वे जिस दुःख और अनर्थके समुद्रमें डूब रहे हैं, उससे बचानेके लिए दया-विशेषका उदय होना और उनकी दुर्दशाको न सह सकना।

४. उपदेशके बिना अपनी धारणा-को न रख पाना।

इस प्रसंगमें द्वितीय कारण नहीं है, यह ठीक है; परन्तु शेष तीन कारण तो विद्यमान हैं। परमकारुणिक स्वयं भगवान्‌ने भी जिनकी उपेक्षा कर दी है ऐसे संसारी जनोंको भी उपदेश देनेके लिए व्याकुल मुनिवरकी दयालुता सर्वथा अवर्णनीय है—यह हमें स्वीकार करना चाहिए। मधुरकविने कहा है कि लोकव्यवहारमें भगवान्‌की कृपासे भी बड़ी और प्रबल भक्तोंकी ही कृपा है। अब आयें, मूलग्रन्थके हृदयमें प्रवेश करें।

भगवान्‌से अतिरिक्त विषयोंमें वैराग्य हुए बिना भगवद्भक्ति प्रतिष्ठित नहीं हो सकती। अतः सबसे पूर्व दूसरे विषयोंसे वैराग्यका ही उपदेश है। मुनिवरका कथन है कि भगवान्‌से भिन्न सभी विषयोंकी आसक्ति त्यागकर भगवान्‌के प्रति आत्मसमर्पण करो। षट्सहस्रिकामें श्रीकुरुकेशार्यका कथन है कि आत्मवस्तुको भगवच्छेषरूपसे स्वीकार करना ही आत्मसमर्पण है। यह चेतन जीव भगवान्‌का शेष है, इस विषयमें सभी वाद-विवादोंका परित्याग ही समर्पण है। मूलगाथामें 'सब छोड़ दो' इस प्रकार पहले सब शब्दका प्रयोग न करके 'छोड़ दो सब' इस प्रकारका वाक्यविन्यास किया गया है। यदि कोई नन्हा-मुन्ना शिशु अपने हाथमें सांप पकड़े हुए हो तो उसको ऐसा ही कहा जायगा कि 'छोड़ दो, छोड़ दो यह सांप।' पहले 'छोड़ दो' कहनेका यह अभिप्राय है कि त्याज्य वस्तु अतिशय क्रूर है। वह क्या है? सब है। जिन-जिन वस्तुओंमें अहंकार और ममकारका दोष जुड़ गया है, उनमें इतना रख लो, इतना छोड़ दो—यह विभाग करना उचित नहीं है। सब छोड़ने योग्य ही है। विभीषणजी जब भगवान् श्रीरामचन्द्रके चरणारविन्दकी शरण ग्रहण करनेके लिए यात्रा करते हैं तब स्त्री, पुत्र, लका सभीका परित्याग करते हैं। वाल्मीकिने सर्वसंगपरित्यागका ही उल्लेख किया है। भगवद्विषयको स्वीकार करनेकी अपेक्षा त्याज्य विषयका परित्याग ही मुख्य है—यह प्रेरणा मिलती है। 'छोड़ दो' इस क्रियापदमें बहुवचनका प्रयोग है। अतः इसके सब अधिकारी हैं, यह निश्चय होता है। कोई शान्त, दान्त होकर शरणागत हो, प्रार्थना करे तब उपदेश प्राप्त करे—ऐसा नहीं। महात्मा बिना किसी प्रतिबन्धके अनुग्रहके वशवर्ती होकर ही समग्र जनताके लिए उपदेश कर रहे हैं। पहली दस गाथाओंमें उन्होंने नारायण या विष्णु ऐसा कोई नाम लेकर अपने हृदय-देवताका निर्देश नहीं किया है। उन्हें परात्पर दृढप्रमाणसिद्ध ही कहा है। इस दशकमें भी 'स्वामी, मोक्षनिर्वाहक भगवान्' इस प्रकारके सामान्य नाम ही हैं। अतिशय जिज्ञासा उत्पन्न करके इस दशककी दशम

गाथामें ही नारायण नामका उच्चारण करते हैं।

संसारकी सम्पदा स्वप्नके पदार्थों जैसी है। यौवन शीघ्र मुरझानेवाला एक फूल है। आयु चमकती बिजली-के समान चञ्चल है। इस बातको जानकर भी ईश्वरकी प्राप्तिमें विलम्ब करनेके लिए कौन धैर्य धारण करेगा? मुनिवर दूसरे दशककी दूसरी गाथामें यही अभिप्राय प्रकट करते हैं। संसारी जीवोंने यह उपदेश श्रवण किया है कि सब छोड़ भगवान्‌का भजन करो। उन्होंने कहा : ठीक है ऐसा ही करेंगे। परन्तु शीघ्र ही ऐसा किया जाय—इस आग्रहका कोई कारण नहीं है। फिर कभी देखेंगे। हाय-हाय! आप नहीं समझते कि यह शरीर क्षण-भंगुर है। मृत्युने बाल पकड़ रखे हैं—ऐसा समझकर धर्माचरण करना चाहिए, यह महापुरुषोंका उपदेश है। शीघ्रता कीजिये, शीघ्रता कीजिये। मेरे उपदेशके अनुसार आचरण करनेमें त्वरा कीजिये। हे जीवो, इस नश्वर शरीरका कुछ कल्याण करना है—यह मेरे उपदेशका आशय नहीं है। मैं चाहता हूँ कि शरीरका नाश होने पर भी जो आत्मा सर्वदा विराजमान रहता है, उसका कल्याण हो।

अहंकार और ममता इन दोनों-का वासना-सहित विनाश करके सर्वेश्वरका समाश्रयण करो। आत्मा-की ऐसी पूर्ति, पुष्टि और कोई नहीं है। अनात्मामें आत्मबुद्धि और परायेमें अपनापन, अविद्या-वृक्षके अंकुरित होनेके यही दो बीज हैं। इससे अहंकार और ममकारका परित्याग करके भगवद्भजन आवश्यक है। ऐसा दूसरा कोई कल्याण नहीं है। 'संसाररूप अपार पारावारमें डूबे हुए विषयाक्रान्तचित्त जीवोंके लिए विष्णुरूप पोतके अतिरिक्त और कोई संतरणका साधन नहीं है।' इस प्रमाण-से यह गाथा सिद्ध है। मूलमें अहंकार, ममकार शब्दका प्रयोग नहीं है। तुम और तुम्हारा है। ऐसा लगता है मानो मुनिवर कह रहे हों कि अनुवाद रूपसे भी मैं मेरा कहना अनर्थका हेतु है।

प्राक्तनविषयासक्तिकी निवृत्ति हो जानेपर भी केवल आत्माके भोगमें, रुचि उदय हो जाती है। इस कैवल्य-रुचिका निवारण करके 'मैं भगवान्‌का एकरस शेष हूँ' इस स्वरूपानुरूप पुरुषार्थकी लालसा उदय होती है। जिस समय विषयान्तरकी आसक्ति छूटती है उसी समय भगवद्भोग ही परम पुरुषार्थ है—यह समझकर भजनकी श्रेष्ठताका उपदेश किया जाता है। कैवल्यमोक्ष भी भगवदनु-भवके विरुद्ध है, साथ ही अपने स्व-रूपके अनुरूप नहीं है। अतएव वह भी त्याज्यकोटिमें ही प्रविष्ट है। भगव-द्विषयक अनुभवकी प्रवणता ही अपने स्वरूपके अनुरूप है। अतएव उसीकी

श्रेष्ठताका उपदेश किया जाता है। यह प्रसिद्ध है कि लोगोंकी रुचि छोटी-बड़ी अनेकों प्रकारकी होती है। कोई इस लोकके समग्र ऐश्वर्यको चाहते हैं। दूसरे लोग विशाल स्वर्गलोकके असंकीर्ण भोगकी कामना करते हैं। कोई कोई आत्मानुभवरूप कैवल्यमोक्ष-की भी आकांक्षा करते हैं। यह आत्मा जब संसारसागरमें डूबने-उतराने लगता है तब पंकदिग्ध मणिके समान मलिनतासे अभिभूत हो जाता है। इसकी अपनी नैसर्गिक प्रभा ढँक जाती है। परन्तु जब यह संसारसागरसे पार हो जाता है और पंकसङ्गसे विनिर्मुक्त मणिके समान जगमगाने लगता है, तब अपनी स्वाभाविक प्रभा-रश्मियोंसे स्पृहणीय हो जाता है। किसी-किसीके मनमें अपने आत्माके इसी सौन्दर्यके अनुभोगकी कामना होती है। उन्हें केवली अथवा कैवल्यमोक्षका इच्छुक कहा जाता है। जो चेतन परमभोग्य भगवदनुभवमें ही तन्मय हो गये हैं, उनके लिए यह कैवल्यमोक्ष भी त्याज्य ही होता है। श्रीवत्सांक मिश्रने वरदराजस्तुतिमें ऐसा ही कहा है : दास्यरूप परमरसका मर्मज्ञ आत्मानुभूतिरूप मुक्तिके रसको ऊषरके जलके समान समझता है। आचार्य यह अनुग्रह करते हैं कि यद्यपि कैवल्य-मोक्ष अपुनरावृत्तिरूप है और शास्त्र-सम्मत है, तथापि चेतनको आत्मभोगमें रसास्वादरुचि हो जानेपर वह उसीमें यावज्जीवन लगा रह जायगा, उसका निवारण नहीं हो सकेगा। वह उस छोटे भोगकी ओर भी आकृष्ट न होकर भगवद्भोगका रसास्वादन करे, ऐसा उपदेश कर रहे हैं।

भगवान्‌के साथ हमारा अटूट सम्बन्ध है—यह अनुसन्धान ही पर्याप्त है। इसके सम्बन्धमें पूर्वाचार्य दो लौकिक कथाएँ उदाहरणके रूपमें उपस्थित करते हैं :

एक था श्रेष्ठ व्यापारी ! उसने व्यापारके द्वारा अधिक धनराशिका सम्पादन करनेके लिए द्वीपान्तरकी यात्रा की। प्रस्थानके समय उसकी पत्नी गर्भवती थी। २-३ महीनेके अनन्तर गर्भवतीसे पुत्ररत्नका जन्म हुआ। कुमार क्रमशः बढ़ने लगा। पुत्रोत्पत्तिका वृत्तान्त ज्ञात होनेपर भी, हृदयमें परमानन्द होनेपर भी, व्यापारी समयपर देश न लौट सका। व्यापारके काममें व्यग्र था। इधर कुमार भी व्यापारमें निपुण हो गया। बीस वर्षकी अवस्था। उसने भी द्वीपान्तर की यात्रा की, धन कमाया, नौकामार्गसे घर लौट रहा था। ऐसी भगवदिच्छा कि पिता भी धन-सम्पदा कमाकर उसी नौकासे लौटा। दोनों एक ही स्थलपर उतरे। सामग्री उतारते समय पिता-पुत्र दोनोंमें स्थल-सम्बन्धी विवाद उत्पन्न हो गया— हमारी सामग्री यहाँ रहेगी, हमारी सामग्री यहाँ रहेगी। दोनों एक-

दूसरेको पहचानते नहीं थे, सम्बन्ध-ज्ञानकी प्राप्ति ही नहीं थी। परस्पर एक-दूसरेको पराया समझते थे। जब कलह बहुत आगे बढ़ने लगा तब एक जानकार सज्जन बीचमें पड़ गये। उन्होंने सम्बन्ध-ज्ञान कराया : तुम दोनों पिता-पुत्र हो, कलहका कोई कारण नहीं। जैसे आचार्य मुस्कराकर चेतन जीवका ईश्वरके साथ सम्बन्धज्ञान करा दे। आप स्वयं समझ सकते हैं कि इसके बाद क्या हुआ होगा। सम्बन्धका ज्ञान होते ही जिन वस्तुओंके सम्बन्धमें रखो-हटाओ-का विवाद था, उनका स्वामी एक हो गया। अब कलह किस बातका? सम्बन्धका ज्ञान होते ही जीव भगवदानन्दका भोक्ता हो जाता है।

दूसरी कथा यह है। एक राजकुमार दूर-दूरके वन-उपवनके दर्शनका व्यसनी था। यही उसके मनोविनोदका साधन था। एक बड़ा सुन्दर पुष्प, फल, हरियालीसे युक्त आराम सम्मुख आया। द्वारपर खड्गहस्त द्वारपाल खड़े थे। राजकुमारने अनुमति माँगी : क्या मैं भीतर जाकर इस अभिराम आरामका आनन्द ले सकता हूँ? वह खड्गधारी द्वारपालोंसे किंचित् भयभीत भी था। वस्तुतः वह उसके पिता महाराजाका ही उद्यान था। यह सम्बन्ध उसको ज्ञात नहीं था। राजपुरुषने कहा : आयुष्मन्, यह तो आपके पिताका ही परमसुन्दर उद्यान है, इसमें निःशंक प्रवेश कीजिये। अब निर्भय होकर अधिकार-सम्पदासे सम्पन्न राजमार उस उपवनमें प्रवेश करता है। इस कथाका निष्कर्ष क्या है? सम्बन्धका ज्ञान न होनेपर भय होता है। सम्बन्ध ज्ञात हो जानेपर महती धीरता, हृष्टताका एवं पुष्टताका भी उदय हो जाता है। सच है, भगवान्के साथ विद्यमान अपने सम्बन्धका विज्ञान न होनेके कारण ही हम भिन्न-भिन्न प्रकारके क्लेशोंका अनुभव कर रहे हैं। भगवान्के साथ सम्बन्धका ज्ञान हो जानेपर कहींसे क्लेशकी महक भी नहीं आ सकती।

नारायण ही चेतनमात्रके हृदयेश्वर, भजनीय, परात्पर तत्त्व हैं। परस्पर अत्यन्त विलक्षण अनन्त जीवराशिके वही स्वामी हैं। असंख्य, अनन्त, अचिन्त्य कल्याण गुणगणोंके-निधान वही हैं। उन्हींके चरणारविन्दका समाश्रयण करनेसे जीवका परम कल्याण होता है। महान् आचार्य इस नारायण-नाम, नारायण-मन्त्र और नारायणरूपकी महिमाका निरूपण इसलिए करते हैं, कि उनके हृदयमें श्रीमन्नारायणकी भक्तितरंगिणी अजस्र प्रवाहित होती रहती है। उसकी स्वाभाविक लहरी ही बाहर निकलती है। संसारमें आसक्त चेतनोंके प्रति सहज करुणाका उद्रेक ही उपदेशकी प्रवृत्तिमें हेतु होता है।●

('वैदिक मनोहरा'से साभार)

यजुर्वेदका प्रथम मन्त्र

श्री वीरसेन वेदश्रमी

(वेद-सदन, महारानी पथ, इन्दौर–१)

• चारों वेदोंका क्रम महत्त्वपूर्ण

वेद चार हैं। उनका क्रम भी नियत है एवं उनके मन्त्रोंका भी क्रम नियत है। इनका विपर्यय करना भी ऋषियों को इष्ट नहीं था। अतः सृष्टिके प्रारम्भमें ही जब परब्रह्म परमात्मासे ऋषियोंको वेदमन्त्र एवं उनका ज्ञान प्राप्त हुआ तभीसे उन्होंने उन वेदसंहिताओंका उसी क्रमसे, उसी आनुपूर्वीमें संरक्षण करनेका प्रयत्न किया। वे यह अच्छी प्रकार जानते थे कि वेद अपौरुषेय हैं—परमात्मा द्वारा प्रदत्त महार्घ ज्ञान-निधि हैं तथा मानव-जातिका सदाके लिए पथ-प्रदर्शक भी हैं।

• वेदमंत्रों और उनके पदोंका क्रम भी महत्त्वपूर्ण

वेदके नाम जब क्रमपूर्वक स्मरण किये जाते हैं तो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद इसी रूपसे स्मरण किये जाते हैं। इस नामक्रममें भी परिवर्तन करना अभीष्ट नहीं है। मन्त्रोंमें क्रमविपर्यय अर्थात् प्रथम मन्त्रके स्थानमें कोई भी मन्त्र कर देना, उनके शब्दोंके क्रममें भी परिवर्तन करना अभीष्ट नहीं। 'अग्निमीळे पुरोहितम्' या 'इषे त्वोर्जे त्वा'के स्थानपर 'ऊर्जे त्वा इषे' इस तरह शब्द क्रमका परिवर्तन भी मान्य नहीं। यदि हम मन्त्रोंके क्रमोंमें परिवर्तन करने लगेंगे तो मन्त्र विकृत हो जायेंगे और उनके क्रममें जो शक्ति एवं ज्ञान भरा हुआ है उससे वंचित हो जायेंगे।

• मन्त्रोंमें पद और अक्षरोंका भी क्रम अपरिवर्तनीय

वेद क्रममें ऋग्वेद प्रथम है। इसका प्रथम मंत्र 'अग्निमीळे' है। उच्चारण, ध्वनि या भाषाकी दृष्टिसे सर्वप्रथम 'अ' की ही ध्वनिका ज्ञान आवश्यक है। अतः प्रथम वेद ऋग्वेदके प्रथम मन्त्रका अ से प्रारम्भ होना सर्वाधिक स्वाभाविक, उचित एवं वैज्ञानिक तथ्य ही है। इस दृष्टिकोणको ध्यानमें रखते हुए हम यह कहनेको भी उद्यत हैं कि अग्निमीळेके स्थानमें 'इळे अग्निम्' ऐसा परिवर्तन करना भी

हमें कदापि स्वीकार नहीं और न वैसा परिवर्तन स्वीकार होना ही चाहिए। जब इतना भी परिवर्तन मन्त्रमें स्वीकार नहीं है तो अग्निके स्थानपर उसके पर्यायवाची शब्द 'वह्निमीळे' कैसे स्वीकार हो सकता है? अर्थ और विज्ञानमें ऐसे परिवर्तनोंसे बहुत अन्तर हो जाता है।

● परिवर्तनसे हानि

यजुर्वेदका वेद-क्रममें द्वितीय स्थान है। प्रथम वेदका प्रथम मन्त्र 'अ' से प्रारम्भ हुआ तो द्वितीय वेदका मन्त्र 'इ' से ('इषे त्वा'से) प्रारम्भ होना परम स्वाभाविक, युक्तियुक्त और वैज्ञानिक आधारपर है। यदि इस वेदका प्रथम मन्त्र 'इ' से प्रारम्भ न होकर उसके दूसरे पद 'ऊर्ज्जे त्वा'से प्रारम्भ होता या दूसरे मन्त्र 'वसोः पवित्रमसि'से प्रारम्भ होता तो इस वेदको द्वितीय क्रममें माननेका एक वैज्ञानिक आधार नष्ट हो जाता। अतः ऋषियोंने वेदोंकी यथावत् रक्षा की है और हमें भी तदनुकूल रक्षा करनी चाहिए।

● मन्त्रों की आनुपूर्वी अक्षुण्ण रखें

यजुर्वेदके इस प्रथम मन्त्रमें 'इषे त्वा' और 'ऊर्ज्जे त्वा' ये दो प्रारम्भके वाक्य हैं और उनके बाद 'वायवः स्थ' यह तीसरा वाक्य है। ये वाक्य क्रमशः 'इ' और 'उ' स्वरोंका ज्ञान कराते हैं। प्रथम वेदने अ, इ, उ, ए, ओ का क्रमशः बोध प्रथम मन्त्रमें कराया था तो यह दूसरा वेद दूसरे स्वर 'इ' से प्रारम्भ होकर इ, उ, ए, बोध कराता है। 'इषे त्वो-र्जे त्वा' इसमें आ + ऊकी सन्धिसे 'ओ' का बोध कराया है। ऋग्वेदके प्रथम मन्त्रमें हमने अपने 'वेदका प्रथम मन्त्र' लेखमें अ + उ से 'ओ' का प्रतिपादन किया था। इस द्वितीय वेदके मन्त्रमें आ + ऊ से 'ओ' की उत्पत्ति स्पष्ट ही है। इ और उ इन स्वरोंके पूर्व अ से ए और ओ की उत्पत्ति ऋग्वेदके प्रथम मन्त्रमें बतायी थी। इस मन्त्रमें इ और उ के बाद 'अ' स्वरके आनेसे य और व की उत्पत्ति होती है, यह बताया है। मन्त्रके तीसरे पदमें व और य से बना पद 'वायवः' ही विद्यमान होना कितना अधिक भाषाविज्ञानके अनु-कूल प्रतीत होता है। इसलिए वेदोंकी, मन्त्रोंकी, पदोंकी, अक्षरों और स्वरोंकी आनुपूर्वी अक्षुण्ण, अपरि-वर्तनीय रखना परम आवश्यक है।

● यजुर्वेद कर्मप्रतिपादक

यजुर्वेदके ४०वें अध्यायके द्वितीय मन्त्र 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजी-विषेच्छतं समाः' के द्वारा शत-संवत्सर-पर्यन्त या यावज्जीवन हमें इस संसारमें कर्म करते हुए ही जीवनयापन करनेका उपदेश दिया गया है।

यजुर्वेद जीवन-व्यवहारकी शिक्षा-का प्रतिपादक है। जीवन कर्म करनेके

लिए है। जीवनके कालरूपी काण्डोंमें, विविध स्थितियोंमें कौन-से कर्म करने चाहिए, इसका प्रतिपादक यजुर्वेद, कर्मकाण्डमय है, ऐसा प्राचीनकालसे अद्यावधि स्वीकार किया गया है। यजुर्वेदका प्रथम मन्त्र मनुष्योंके लिए कर्मोंका संक्षेपरूपसे श्रेष्ठतम उद्घोष करता है। वे ही कर्म हमारे जीवनके लिए प्रमुख हैं।

• कर्मों की पंचविधता

कर्म कौन-से करने चाहिए, यदि इसका विधान वेद न करे तो कर्तव्या-कर्तव्यका बोध एवं निर्णय कठिन हो जाय। वैशेषिक-दर्शनने कर्मको पाँच प्रकारका माना है। वह तो कर्मकी दार्शनिकता और कार्यमूलत्वका विज्ञान है। जीवनके कर्तव्य-पथका वह प्रदर्शक नहीं है। परन्तु मानवको अपने कर्तव्योंका सुगमतासे सर्वप्रथम ज्ञान करानेके लिए यजुर्वेदके प्रथम मन्त्रमें परमात्माने बोध कराया। इसमें भी पाँच प्रकारके कर्मोंका उपदेश निम्नलिखित प्रकारके दृष्टिगोचर हो रहा है।

• यजुर्वेदके प्रथम मन्त्रमें पाँच कर्मोंका उपदेश

१. इषे त्वा = तुझको अन्यके लिए कर्म करनेको प्रेरित करता हूँ।

२. ऊर्ज्जे त्वा = बल, पराक्रम सम्पन्न करनेके लिए प्रेरित करता हूँ।

३. वायवः स्थ = शरीरमें प्राणादि है तथा कर्म करनेके साधन इन्द्रियादि हैं। उनको शक्तिसम्पन्न करके जीवन-आयुकी वृद्धिका प्रयत्न करो।

४. देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे = सवितादेव तुम सबको श्रेष्ठतम कर्म यज्ञके लिए प्रेरित करते हैं। अर्थात् यज्ञ करो।

५. आप्यायध्वम् = उपर्युक्त कर्म करते हुए तुम सब उन्नतिको प्राप्त होओ।

यजुर्वेदके प्रथम मन्त्रमें प्रारम्भसे इन पाँच कर्मोंका क्रमशः प्रतिपादन किया है। इनका हमारे जीवनमें अत्यन्त महत्त्व है।

• प्रथम कर्तव्य, इषेत्वा १. अन्नकी उत्पत्ति :

जीवनके लिए प्रथम कर्तव्य अन्यके लिए सभी करते हैं। अन्नके बिना जीवन क्षीण हो जाता है। अतः अन्नकी उत्पत्ति, प्राप्ति, वृद्धि, संग्रह, उपयोग, उपभोगके लिए प्रयत्न करना और अन्नको अन्योंको भी उप-भोग-जीवनके लिए प्रदान करना यह हमारा प्रधान एवं प्रथम कर्तव्य है। व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्रकी यह प्रधान समस्या है। अतः अन्नं बहु कुर्वीत तद् व्रतम्—इस व्रतका अवश्यमेव पालन करना चाहिए। इष् अन्नको कहते हैं। इस अन्नके लिए कर्म करने-के लिए परमात्माने हमें शरीर दिया है। कर्मके साधन दिये हैं। तब हम क्यों अकर्मण्य होकर अन्नके लिए पराश्रित हों? अपने परिश्रमसे बहुत अन्न उत्पन्न करें।

● द्वितीय कर्त्तव्य, ऊर्ज्जे त्वा
२. बलप्राप्ति :

जीवनके लिए दूसरा कर्तव्य—ऊर्ज् अर्थात् बल, पराक्रमके लिए करना चाहिए। व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र यानी मानवमात्रको बल-पराक्रमसे सम्पन्न एवं उन्नत होते रहना चाहिए। बलहीन व्यक्ति, समाज या राष्ट्र अवनत अवस्थामें जीवन व्यतीत कर दुःख, दारिद्रय एवं परतन्त्रताके पाशोंसे सदैव पीड़ित रहता है। अतः प्रथम मन्त्रमें अन्नके साथ बल-पराक्रम-युक्त होनेके लिए आदेश दिया है। विद्या, बुद्धि, नीति, अर्थ, भौतिक साधन, अस्त्र-शस्त्र, मैत्री आदि बलके अनेक प्रकार हैं। इन सब बलोंसे युक्त होना चाहिए।

● तृतीय कर्तव्य वायवः स्थ,
३. आयुवृद्धि :

शरीरमें प्राणादि वायु हैं और अन्तरिक्षमें भी वायु प्राणरूपसे है। अन्न और जलमें भी वायु अर्थात् प्राण है। वायुसे आयु बन रही है। यही प्रमुख जीवनाधार है। प्राणादि वायुओंमें स्थ, स्थित होना, प्राणाया-मादि द्वारा प्राणको बलवान् बनाकर जीवन-आयुकी वृद्धि करनेका प्रयत्न अवश्य करना चाहिए। अन्यथा पूर्वके दोनों कर्म व्यर्थ हो जाते हैं।

'वायवः'का अर्थ कर्मसाधक इन्द्रियाँ, अन्तःकरणादि भी है। इनको भी बलवान् बनाना चाहिए। इनको प्राणायामादिके द्वारा दोषरहित, पवित्र बनाना चाहिए। निर्मल अन्तः-करण एवं इन्द्रियोंकी पवित्रतासे मनुष्यके कर्म भी निर्मल-निष्पाप ही होंगे। अतः पूर्वोक्त दोनों कर्मोंके साथ यह तीसरा भी कर्तव्य प्रतिदिन करना चाहिए।

● चतुर्थ कर्तव्य, श्रेष्ठतमाय कर्मणे
४. यज्ञ करो :

मनुष्यका अन्न, बल और आयुके प्रयत्नोंमें संलग्न होना स्वाभाविक ही है। वह इनके लिए प्रयत्न करता ही है। परन्तु इनके लिए प्रयत्न करते हुए मनुष्य कर्तव्य-अकर्तव्यको समझ प्रवृत्त हो और अकर्त्तव्योंका त्याग करें, इसके लिए परमात्माकी प्रेरणा-की आवश्यकता है। वह प्रभु हमें श्रेष्ठ कर्मोंको करनेकी प्रेरणा दें और श्रेष्ठतम कर्मोंके ज्ञानकी भी प्रेरणा प्रदान करें। श्रेष्ठतम कर्मोंके करनेसे मनुष्य सर्वोच्च उन्नति प्राप्त कर सकता है। यह प्रेरणा हमें मनुष्य नहीं दे सकता। सविता देव, परब्रह्म पर-मात्मा, सर्वेश्वर ही जो सर्वान्तर्यामी है तथा जो हमारे सखा, पिता और गुरु भी हैं, वही यथार्थ रूपमें दे सकते हैं। अतः मन्त्रका चतुर्थ वाक्य—**देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे** है। अर्थात् हम तुम सबको सकलैश्वर्यके उत्पादक, प्रकाशक एवं दाता, विद्या-विज्ञानादि ऐश्वर्योंके प्रेरक सविता देव, जीवोंके सर्वोच्च श्रेष्ठ-

कर्मोंकी ओर प्रेरित करते रहें अर्थात् उन कर्मोंमें हमें नियुक्त करते रहें।

इस निमित्त हमें सवितादेवके सावित्री मन्त्र, गुरुमन्त्रसे **धियो यो नः प्रचोदयात्** की प्राप्तिके लिए प्रभुकी आराधना, उपासना अवश्य करनी चाहिए। ऐसा करनेपर प्रभु श्रेष्ठतम कर्म-यज्ञकी प्रेरणा प्रदानकर जीवनको यज्ञमय बना देते हैं। प्रभुके प्रेरित श्रेष्ठतम कर्मको यज्ञ ही माना गया है; क्योंकि प्रभु श्रेष्ठतम हैं। अतः उनके प्रेरित कर्म भी श्रेष्ठतम हैं। यह जीवनकी आध्यात्मिक उन्नतिका क्षेत्र है। इसके अतिरिक्त जो बाह्य कर्मकाण्डरूप यज्ञ है, वह भी उसीकी प्रेरणासे—**देवः सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय** (यजुः ९.१) यज्ञ और यज्ञपति दोनोंका ही प्रसव वे करनेवाले हैं। अतः बाह्य कर्मकाण्डमय यज्ञादि भी श्रेष्ठतम कर्म हैं। प्रभुकी प्रेरणासे हम उनके करनेवाले बनें, ऐसी हमें सामर्थ्य प्रदान हो।

● पंचम कर्त्तव्य आप्यायध्वम्,

५. सब प्रकारसे सबकी उन्नति :

वास्तवमें देखा जाय तो पूर्वोक्त प्रकारके चार कर्मोंका यह फल भी है और पृथक् रूपसे भी उन्नतिके लिए, यज्ञकी उन्नतिके लिए, बलकी उन्नतिके लिए, यज्ञकी उन्नतिके लिए और सर्वप्रकारकी सबकी उन्नतिके लिए प्रयत्न करो। सर्वप्रकारकी सबकी उन्नति यज्ञके बिना हो ही नहीं सकती। जिन कर्मोंसे सबकी उन्नति होती है वही धर्म है, वही यज्ञ है। धर्म ही जीवनमें धारण करने योग्य है। धर्मका धारण आचरण व्यवहारसे ही होता है। अतः यजुर्वेदका प्रथम मन्त्र धर्म-कर्मका प्रतिपादक है। जीवनको यज्ञमय बनाता है।

● धर्म-कर्म यज्ञादिका आधार गो सेवा :

मन्त्रमें जीवनके लिए प्रधानरूपसे प्रारम्भके पाँच वाक्योंमें धर्म-कर्मका उपदेश स्पष्टरूपसे प्राप्त होता है। परन्तु मन्त्र अभी पूरा नहीं होता। अभी तो उसका तृतीयांश पूर्ण हुआ है। इसमें कर्मोंका उपदेश है, परन्तु अवशिष्ट भागोंमें इनके सहायक कर्मोंका उल्लेख है। द्वितीय भागमें गौके लिए ही पाँच कर्मोंको पूर्वोक्त पांच कर्मोंका पूरक मानकर पांच प्रकारसे गोसेवाका विधान किया गया है।

● गौकी पंचविध की सेवा :

१. अघ्न्या : गौ अहिंसनीय है—यह बढ़ाने योग्य है अर्थात् गोरक्षा करनी चाहिए।

२. इन्द्राय भागम् : परमैश्वर्यकी प्राप्तिके लिए इसकी सेवा प्रीतिपूर्वक करनी चाहिए।

३. प्रजावतीः—गोवंशकी वृद्धि करनी चाहिए।

४. अनमीवाः—इनकी रोगादिसे रक्षाका पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए।

९. अयक्ष्माः—इनका शरीर दुर्बल न हो, अपितु हृष्ट-पुष्ट, तेजस्वी हो, ऐसा प्रयत्न करना चाहिए।

पूर्वोक्त पांच कर्मोंका क्रमशः गौकी पंचविध सेवासे सम्बन्ध

१. गोरक्षा : अघ्न्या

इषे त्वा : प्रथम आदेश है। इस निमित्त अर्थात् अन्नकी उत्पत्ति और पृथिवीकी उत्पादन सामर्थ्यं बढ़ानेके लिए गौ ही परम सहायक है। इस मन्त्रमें सर्वप्रथम अघ्न्याः गौको अहिंसनीय घोषित किया। इसकी रक्षासे भूमि जोतनेके लिए बैल मिलेंगे। इनसे भूमिको गोबर व गोमूत्र प्राप्त होगा। उससे भूमिमें उत्पादनशक्ति बढ़ेगी। उस भूमिसे उत्पन्न अन्नमें विशेष रस, स्वाद और बल-सामर्थ्य होता है और सात्त्विकता भी होती है। बुद्धि निर्मल होती है। अतः 'इषे त्वा' इस प्रथम कर्तव्यके लिए 'अघ्न्याः' गोरक्षाके प्रयत्नका उपदेश है।

२. गोसेवा : इन्द्राय भागम्

ऊर्जे त्वा : इस दूसरे कर्म अर्थात् बलप्राप्तिके लिए इन्द्राय भागम् परमैश्वर्य-पराक्रमके लिए भागम् भजनीय, सेवा करने योग्य गौको बताया है। इन्द्रका सम्बन्ध बलसे है। इन्द्रको वेदमें गोपति माना गया है। अतः परमैश्वर्य, बल, पराक्रम आदिकी प्राप्तिके लिए गौकी सेवा करनी चाहिए। गौके दूध, दही, तक्र, नवनीत और घृतादिसे, उसकी पयस्या और आमिक्षा (पनीर) आदिके सेवनसे शारीरिक और बौद्धिक बल बढ़ते हैं तथा आरोग्य प्राप्त होता है। यदि गौकी सेवा करके गोमाता-को प्रसन्नतासे उसका दोहन किया जाता है तो वह अपने सेवकको अपना वत्ससदृश मानकर अपने दूधमें प्रेम, स्नेह, प्रसन्नता और आशीर्वाद आदि-के साथ अमृतका संचार कर देती है। बिना गोसेवाके प्राप्त दूधमें स्नेह-हीनता, आशीर्वादका अभाव ही रहता है। अमृतरहित वह दूध 'मृत दूध' 'सेपरेटा'-तुल्य हो जाता है। अतः ऊर्जे त्वा—बल पराक्रमके लिए गो-सेवा अत्यन्त आवश्यक है।

३. गोवंश-वृद्धि : प्रजावती :

वायवः स्थ : तीसरा कर्म है—हमारे शरीरमें दस प्राण एवं दस इन्द्रियाँ हैं। इन प्राणों और इन्द्रियोंके बल-जीवनकी वृद्धि, प्राणों-की पुष्टि और वृद्धि के लिए गोवंशकी वृद्धि आवश्यक है जिससे सदैव हमारे प्राण एवं इन्द्रियाँ पुष्ट होती रहें। वेदमें कहा है 'इह गावः प्रजायध्वम्'—हमारे घरोंमें गायें बहुत हों, बहुत उत्पत्ति करें, बहुत वत्सों-वाली हों। अधिक गायोंसे अपना घर गोष्ठ ही बन जाता है। गोष्ठ

बननेसे घरका वातावरण पवित्र हो जाता है। वह पवित्र तीर्थस्थल बन जाता है। उन गोष्ठोंमें बैठकर 'वायव:' विविध प्रकारके जो प्राण हैं और उनके अभ्याससे अर्थात् प्राणायाम करनेसे प्राण पुष्ट होते हैं और दीर्घजीवनको प्राप्त होते हैं। इन्द्रियोंका बल, तेज भी बढ़ता है। अन्त:करण-चतुष्टय निर्मल होता है। यदि इन गोष्ठोंमें प्राणायामके साथ उपासना, सन्ध्या, ध्यान, गायत्री प्रणवादिका जप किया जाय तो समाधिकी भी सिद्धि शीघ्र होती है। शरीरका नवीन कायाकल्प भी होता है। चरकने कायाकल्प-प्रयोगके लिए 'गवां मध्ये वसेत् सदा सावित्रीं चाप्यधीयीत' प्रयोग बताया है। अतः 'वायवः स्थ' के साथ 'प्रजावती:' का सम्बन्ध है।

४. गौको रोगरहित रखना : अनमीवाः

श्रेष्ठतमाय कर्मणे : यह चौथा कर्म वेदने बताया है। श्रेष्ठतम कर्म यज्ञ-होम ही है। यज्ञ होमादिके लिए गौके घृत, दूध, दही, पायस, पयस्या; आमिक्षा आदिकी आवश्यकता होती है। यदि गौएँ अमीवा अर्थात् रोगयुक्त होंगी तो दुग्धादि कम मात्रामें मिलेगा और जो मिलेगा वह भी रोगयुक्त होनेसे हवि-योग्य नहीं होगा एवं सेवन-योग्य भी नहीं होगा। उससे हवि-कर्म करनेसे श्रेष्ठतम कर्म, यज्ञकी श्रेष्ठतमता नष्ट होगी और लाभके स्थानपर हानि होनेकी संभावना होगी तथा कर्ममें द्रव्याभावसे अवरोध होगा। अतः 'श्रेष्ठतमाय कर्मणे' की पूर्तिके लिए गौओंको 'अनमीवा:' यानी रोगरहित बनानेका प्रयत्न अत्यन्त आवश्यक है।

५. गौवोंकी पुष्टि : अयक्ष्माः

पांचवां मुख्य कर्म आप्यायध्वम्। वृद्धि यानी उन्नति पानेका वेदने उपदेश किया है। इसके लिए सहायक कर्म गौकी सेवा 'अयक्ष्मा:' यक्ष्मादि रोगरहित रखनेका बताया है। यक्ष्मारोगमें शरीरकी धातुओंकी क्षीणता, बलादिकी क्षीणता, प्राणोंका ह्रास होता है। क्षीणता, शोष—सूखना आदि वृद्धिसे विपरीत स्थितियाँ हैं। अतः 'आप्यायध्वम्' वृद्धि, उन्नति आदिके लिए 'अयक्ष्मा:' की स्थिति गौओंमें रहे, ऐसा प्रयत्न मनुष्यको सदा अपनी उन्नतिके लिए करना चाहिए।

● गौकी पञ्चविध सेवाके लिए पाँच सहायक कर्म :

इस प्रकार पांच प्रमुख कर्मोंके लिए गौकी पाँच प्रकारकी सेवाका उपदेश प्रथम मन्त्रमें दिया गया है। परन्तु अभी मन्त्र पूरा नहीं हुआ, क्योंकि अभी कुछ सहायक कर्म हमारे लिए और ज्ञातव्य हैं और वे भी पाँच हैं। उनका भी सम्बन्ध क्रमशः है। अतः गोसेवाके लिए पाँच कर्मोंके लिए पाँच और भी कर्तव्य निम्न-

लिखित प्रकार करनेका मन्त्रके अन्तिम भागमें उपदेश है :

१. मा वस्तेन ईशत : गोघाती एवं गोचोर समर्थ न बनें।

२. मा अघशंसः—पापी एवं पापप्रशंसक या पापकर्म - समर्थक न बनें।

३. ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात् बह्वीः—गोपतिके पास बहुत-सी गौएँ सदा रहें। अर्थात् बिना गौओंके नहीं रहना चाहिए।

४. यजमान (स्य) : गोपति बनकर यज्ञ करें। यजमान बनकर यज्ञ रचाने चाहिए।

५. पशून् पाहि : गौके अतिरिक्त अन्य पशुओंकी भी रक्षा, प्रजाकी भी रक्षा, या पालन करना चाहिए।

१. गौके लिए प्रथम सहायक कर्म : गोघाती समर्थ न बनें

'मा वस्तेन ईशत' का अर्थ है कि तुम्हारी गौओंको कोई तस्कर, चोर, गोघाती और गो-भक्षक प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से, धनादिके माध्यम-से भी ले जानेमें समर्थ न बने। यदि ये समर्थ हो गये तो तुम्हारे पास गौएँ रह नहीं सकेंगी और 'इषे त्वा' का अन्नका प्रयत्न विफल होगा और उन तस्करों, गोघातियोंके पास वे गौएँ अघ्न्य यानी अहिंसनीय नहीं रहेंगी, अपितु उनकी हिंसा हो जायगी। अतः अन्न अधिक उत्पन्न करनेके लिए और पृथिवीको उर्वरा बनानेके लिए गौको 'अघ्न्याः' अहिंसनीय बनानेके साथ 'मा वस्तेन ईशत' इसका भी प्रयत्न करना आवश्यक है।

२. गोघाती और उनके समर्थक समर्थ न बनें।

'माघशंसः'—अघशंसः=पापकी प्रशंसा या समर्थन करनेवाले भी समर्थ न हों। अर्थात् जनमतमें गोरक्षकोंका ही बल हो। यदि गोघातियों या पाप-के समर्थकोंका जनबल बढ़ जायगा तो गोहत्यादि पापकर्मोंकी वृद्धि ही होगी और 'इन्द्राय भागम्' के अनुसार उसकी सेवा करनेवालोंकी न्यूनता होनेसे 'ऊर्ज्जे त्वा' बल-पराक्रमवृद्धिका लक्ष्य पूरा नहीं होगा। गौके दुग्धके अभावमें बौद्धिक शक्तिका ह्रास और तामसिक कर्मोंकी वृद्धि होगी।

गौओंकी कमीसे पृथिवीसे उत्पन्न अन्न, फलादिमें शुष्कता, रसहीनता, बल, तेजकी न्यूनता ही होगी। अतः 'ऊर्ज्जे त्वा'के साथ 'इन्द्राय भागम्' और 'माघशंसः' का प्रयत्न आवश्यक है।

३. सदा बहुत गौएँ हों : गोपति बनें

तीसरा सहायक प्रयत्न गोपति बननेकी भावना है और बहुत-सी गौओंको रक्षा एवं पालन करके यथार्थमें गोपाल बनना है। प्रत्येक व्यक्ति गोपाल हो। उसके पास निश्चयसे, ध्रुवरूपसे बहुत-सी गौएँ होनी चाहिए और 'अलं गोपतिः स्याम्' (ऋ. ८. १४.२) यह भावना उदित होनी चाहिए। इसका सम्बन्ध गौकी सेवाके

तीसरे कर्म 'प्रजावतीः' से है और प्रजा-वती-रूपसे गौ सेवाका सम्बन्ध 'वायवः स्थ' से पूर्वमें बताया ही है।

४. यजमान बनना :

चतुर्थ मुख्य कर्तव्य श्रेष्ठतम कर्म यज्ञोंका करना बताया गया है। उसका सहायक गोसेवा कर्म 'अनमीवाः' गौओंको रोगरहित रखना है। रोग-रहित रखकर गौओंके घृतादिसे यज्ञ करनेके लिए यजमान बने बिना यज्ञ हो ही नहीं सकता। अतः सहायक कर्म यजमान बननेकी भावनासे ही पूर्ण हो सकेगा, अन्यथा नहीं। गोपति बनकर तो गौके दूध व घृतादिका अपने ही उपयोगमें लेनेका कर्म प्रचलित हो जाता है। गोपतिके साथ यज्ञ करने और यजमान बननेकी भावनासे प्राणिमात्रके कल्याणकी भावना जागृत होती है और जीवन यज्ञमय, पुण्यमय बन जाता है।

५. पशुओं और प्रजाका पालन :

पञ्चम मुख्य कर्तव्य 'आप्यायध्वम्' कहा गया है। पशुओंके रक्षण तथा प्रजाके पालनसे सबकी वृद्धि होगी। यजमानके पशु और प्रजाके रक्षणसे यज्ञका वंशपररम्परानुगत प्रचलन होता है और 'यजमानस्य पशून् पाहि' एक ही वाक्य बन जाता है।

इस प्रकार यजुर्वेदका प्रथम मन्त्र जीवनके महान् कर्तव्यका बोध कराता है।

●

गुरु

जिस बातको हम अपनी इन्द्रियोंसे मनसे और बुद्धिसे नहीं समझ सकते; उस बातको अनुभव करानेके लिए ही गुरु और शास्त्रकी आवश्यकता है। परमात्मा इन्द्रियों द्वारा देखा नहीं जा सकता, मन द्वारा उसका ध्यान नहीं हो सकता और बुद्धिके आकलनमें वह कभी आ नहीं सकता। ऐसे मन, वाणी और बुद्धिके अविषय अखण्ड-अद्वितीय ब्रह्मतत्त्वको आत्मरूपसे अनुभूत करा देना एकमात्र गुरुका ही चमत्कारपूर्ण अद्भुत कार्य है।

●

तिरुवल्लुवर

— डॉ० उर्वशी सूरती —

[एस० एस० डी० टी० महिला विश्वविद्यालय, बम्बई]

दक्षिण भारतके सन्त कवि तिरुवल्लुवरका जन्म करीब दो हजार वर्षपूर्व वर्तमान मद्रासके उपनगर मैलापुरमें हुआ था। एक मान्यता ऐसी है कि उनका जन्म मदुरामें हुआ था। उन दिनों मदुरा पांड्योंकी राजधानी थी।

तिरुवल्लुवरका नाम इतिहास खोजनेपर न मिलेगा। उस शब्दका अर्थ 'वल्लुवा जातिका भक्त' ऐसा होता है। वल्लुवा अंत्यज जातिके माने जाते थे। उनका काम था राजाकी आज्ञा और हुक्मोंको जाहिर करना। वे हाथीपर बैठकर ढोलक बजाकर राजाकी आज्ञा सुनाते थे।

तिरुवल्लुवरके पिता 'भगवान्' ब्राह्मण थे और माता 'आदि' अन्त्यज जातिकी थी। 'आदि' की परवरिश एक ब्राह्मणके घर हुई थी और उस ब्राह्मणने 'आदि' की शादी भगवान्के साथ करायी थी। 'भगवान्-आदि' को तिरुवल्लुवरके अतिरिक्त अन्य छः सन्तानें थीं। वे सभी कविताकी रचना करते थे, ऐसा माना जाता है।

तिरुवल्लुवर कबीरजीकी तरह जुलाहेका व्यवसाय करते थे। उनकी दृष्टिसे अन्य व्यवसायोंकी अपेक्षा यह व्यवसाय अधिक निर्दोष था। उनका गृहस्थ-जीवन आदर्श था। उनकी पत्नी वासुकि अत्यन्त गुणवती थी। उनके निधनके बाद तिरुवल्लुवरने संन्यास लिया था।

तमिल प्रजा तिरुवल्लुवरके गृहस्थ-जीवनके बारेमें आज भी प्रेमसे बातें करती है। ऐसी किंवदन्ती है कि तिरुवल्लुवरने भावी पत्नीकी कसौटी करनेके लिए लोहेकी कालके शिरोभाग और लोहेके अन्य टुकड़े अपने लिए रसोईमें पकानेको कहा। भावी पतिके आज्ञानुसार वासुकिने वैसा ही किया। यह घटना सत्य है या नहीं, यह जाननेके लिए बादमें एक साधु उनके घर जा पहुँचे।

उन्होंने तिरुवल्लुवरको प्रश्न किया : 'विवाह करनेके बारेमें आप क्या सलाह देते हैं ?'

तिरुवल्लुवरने प्रश्नका उत्तर देनेके बदले साधुको अपने पास कुछ

दिन ठहर जानेको कहा। एक दिन ऐसा हुआ कि तिरुवल्लुवर और साधु सुबह जलपानके समय ठण्डा भात खा रहे थे। उस समय वासुकि आँगनके कुएँसे पानी निकाल रही थी। तिरुवल्लुवरने वासुकिको पुकारा कि 'भात इतना ज्यादा गर्म है कि खाया नहीं जाता।' यह सुनते ही वासुकि पानीके घड़ेको कुएँमें लटकता छोड़कर दौड़ी और पत्तेपर रखे भातको ठण्डा करनेके लिए पंखा झलने लगीं। आश्चर्य यह था कि पखा झलनेके साथ भातसे भाप निकलने लगी।

इस साधुकी उपस्थितिमें दूसरी भी एक घटना हुई बतायी जाती है। एक दिन तिरुवल्लुवर सूर्यके पूरे प्रकाशमें शालपर काम कर रहे थे। उस समय उनके हाथसे फिरकी गिर गयी। इसलिए उन्होंने पत्नीको जल्दी-जल्दी दिया लानेको कहा। प्रकाशमें ऐसी माँग कितनी बेहूदा है, इसका विचार किये बिना वासुकि तुरन्त दिया जलाकर लायीं। साधुको जो उत्तर चाहिए था, वह मिल गया।

तिरुवल्लुवर अपनी इस सुशील और संस्कारी पत्नीके प्रति अतिशय आदरभाव रखते थे और उसे देवा-तुल्य मानते थे। वासुकि भी पतिको भगवान्‌की तरह पूजती थीं और उनके प्रत्येक कार्यमें हार्दिक सहयोग देती थीं। पतिकी सेवामें हमेशा तत्पर रहनेवाली वासुकि पतिके सोनेके बाद सोती थी, जगनेके पूर्व प्रातः जग जाती थीं।

तिरुवल्लुवर जिस गांवमें रहते थे, उसके निकटके गांवमें वे कई बार अपना बुना हुआ कपड़ा बेचने जाते। एकबार किसी श्रीमान्‌का स्वच्छंदी जवान बेटा उस बाजारमें आ पहुँचा। उसने एकाएक तिरुवल्लुवरको देखा। उनकी लम्बी दाढी और शान्त मुखार-विन्दसे वे सन्त-सरीखे दीखते थे। उनके पास दो साड़ियाँ बेचनेके लिए रखी हुई थीं। उस जवान लड़केने किसीको उनके बारेमें पूछा।

उस आदमीने कहा : 'वे कोई मामूली बुनकर नहीं हैं। लोग बड़े सन्तके रूपमें उनका आदर करते हैं। वे बड़े मधुर स्वभावके हैं। कभी गुस्सा नहीं करते।'

यह सुनकर वह जवान लड़का बोला उठा : 'देखा, देखा ऐसे सन्तको! कभी नाराज न हो ऐसा कभी सम्भव है? जरा देखो तो सही, अभी उनको कैसा गुस्सा दिलाता हूँ!'

इतना बोलकर वह तिरुवल्लुवरके पास गया। तिरुवल्लुवरने उसका प्रेमपूर्वक स्वागत किया। लड़का बोला : 'मुझे एक साड़ी चाहिए। उसकी कीमत क्या है?' तिरुवल्लुवर बोले : 'दो रुपये।'

उस जवान लड़कने साड़ी हाथमें लेकर उसको फाड़कर दो टुकड़े किये। फिर वह बोला : 'मुझे आधी साड़ी

ही चाहिए। उसका क्या लोगे ?' तिरुवल्लुवरने शान्तिसे कहा : 'एक रुपया।'

पुनः उस लड़केने उसके भी दो टुकड़े किये और एक टुकड़ेकी कीमत पूछी : 'मुझे इतना ही टुकड़ा चाहिए, इसका क्या लेंगे ? तिरुवल्लुवर पूर्ववत् शान्तिसे बोले : 'आठ आना।'

उनको इस प्रकार शान्त देखकर उस जवानको बड़ा आश्चर्य हुआ। वह तो किसी भी उपायसे उनको गुस्सा दिलाना चाहता था। इसलिए उससे उस साड़ीके अनेक टुकड़े किये और कीमत पूछता ही गया। तिरुवल्लुवर विना क्षोभके कमसे कम कीमत बताते गये।

अन्तमें हारकर वह लड़का बोला : 'मुझे अब ये टुकड़े किस काम आवेंगे ? मुझे ये नही चाहिए।'

तिरुवल्लुवरने स्थिर चित्तसे कहा : 'बेटा, तेरी बात सच है। तुझे ये टुकड़े किसी कामके नहीं रह गये।'

उस जवान लड़केने सोचा : 'यह तो गजब हो गया। मैंने आवेशवश इनकी साड़ीके अनगिनत टुकड़े कर दिये। अब क्या होगा ?' वह अपने इस अविचारपूर्ण कृत्यसे अतिशय लज्जित हुआ। उसने क्षुब्ध होकर कहा : 'नहीं, नहीं, ऐसा कैसे हो सकता है ? मैं आपकी साड़ीकी पूरी कीमत चुका देता हूं। लीजिये ये दो रुपये।'

तिरुवल्लुवरने रुपये नहीं लिये और बोले : 'मैं इन टुकड़ोंको किसी प्रकार जोड़के काममें लाऊँगा। तुम्हें ये टुकड़े किसी काममें न आयेंगे। मैं तुमसे उसकी कीमत कैसे लूं ?

लड़का बोला : 'मेरे पास तो बहुत पैसे हैं। मुझे पैसेकी कुछ चिन्ता नहीं है। तुम गरीब हो। मैंने तुम्हारी साड़ी फाड़-फाड़कर निकम्मी कर दी है। मुझे उस नुकसानको भरना चाहिए।'

तिरुवल्लुवर यह सुनकर कुछ गम्भीर होकर बोले : 'बेटा, क्या तू इस नुकसानकी पूर्ति कर पायेगा ? तू क्या ऐसा समझता है कि दो रुपये दे देनेसे नुकसानकी पूर्ति हो जायगी ? कितने किसानोंने कपास उगानेके लिए परिश्रम किया है ? उसकी रूईसे मेरी पत्नीने सूत काता। मैंने उस सूतको रंगा और शालपर बुनकर साड़ी तैयार की। कोई वह साड़ी पहने, तभी इन सबका परिश्रम सफल हुआ माना जायगा और उससे हमें सन्तोष होगा। तुमने इस साड़ीको फाड़कर उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिये। इतने सारे लोगोंका श्रम व्यर्थ हुआ।

तिरुवल्लुवरके इन शब्दोंको सुनकर जवान लड़केकी आँखोंमें आँसू उमड़ आये। वह उनके चरणोंमे झुक गया। बहुत पछतावेके साथ वह उनसे क्षमा-याचना करने लगा।

तिरुवल्लुवरने उसे प्रेमपूर्वक उठाया और बोले : 'बेटा, मैं यदि

दो रुपयेका लोभ करता तो तेरा जीवन भी साड़ीकी तरह बेहाल हो जाता। वह किसी लायक न रहता। अब तुझे सब ठीक-ठीक समझमें आ गया है, इसलिए फिर कभी ऐसी गलती नहीं करेगा। एक साड़ी बिगड़ी तो दूसरी साड़ी बनायी जा सकती है, परन्तु जीवन बिगड़े तो दूसरा जीवन कहाँसे मिलेगा ?'

इन वाक्योंका उस जवान लड़केपर बहुत गहरा असर हुआ। वह तिरुवल्लरको नम्रतासे नमस्कार कर घर गया और अपने पिता एलेलशिगनको उसने सारी बातें बतायी।

एलेलशिगनने सोचा—'मैंने अपने लड़केको सुधारनेके लिए अथक परिश्रम किया, परन्तु उसका कोई परिणाम नहीं हुआ, जब कि इस संतपुरुषके सम्पर्कमें आनेपर इस एक ही प्रसंगसे वह इतना अधिक सुधर गया, तो मुझे अवश्य इस संतके दर्शन करने चाहिए।

बादमें एलेलशिगन तिरुवल्लुवरको मिलनेके लिए उसके घर गये। तिरुवल्लुवर और उसकी पत्नीने उसका हार्दिक स्वागत किया। एलेलशिगन तुरन्त ही तिरुवल्लुवरकी साधुता पहचान गया। फिर तो वह उनका भक्त हो गया।

तिरुवल्लुवर सचाई, शील, मधुरभाषण, दया, नेकी, निडरता, अक्रोध, अनसूया, निर्लोभता, बड़ोंका आदर, भगवान्पर भरोसा रखना आदि ऐसे-ऐसे अनेक सद्गुणोंपर बहुत जोर देते।

एक दिन एलेलशिगनने तिरुवल्लुवरको प्रार्थनापूर्वक कहा : "गुरुदेव, आपके उपदेशामृतसे मेरे लड़केका जीवन सुधर गया। परन्तु इस प्रकार दूसरे कई लोग अज्ञानांधकारमें भटक रहे हैं। इसलिए यदि आप अपने ज्ञान और अनुभवके निचोड़-स्वरूप एक ग्रन्थ लिखेंगे तो उसका लाभ अनेक लोगोंको मिलेगा।

तिरुवल्लुवरने सोचकर बताया : "भगवत्कृपासे मैंने जीवनके कई पहलुओंको देखा है, बड़ोंकी बातें सुनी हैं, छोटे-बड़े सबसे मैंने कुछ न कुछ सीखा है। प्रत्येक बातपर मैंने मनन किया है। यदि मेरे अनुभवसे किसीका लाभ होता हो, तो अच्छा है। मैं एक छोटा ग्रन्थ लिखूँगा। मैंने जीवनमें जो कुछ प्राप्त किया है, वह सबको बाँट देना मेरा धर्म है। तुम्हारी इस बातको मैं भगवान्का आदेश मानता हूँ।"

उसके बाद तिरुवल्लुवरने पद्यमें एक ग्रन्थकी रचना की। उसमें उन्होंने जीवनके तीन पुरुषार्थोंका उल्लेख किया है। मोक्षके बारेमें उन्होंने कुछ भी नहीं लिखा। वे कहते थे : "मैं मोक्षकी बात क्या जानूँ ? मुझे धर्मकी बात मालूम है। संन्यासीका धर्म क्या है, गृहस्थका धर्म क्या है, इन

विषयोंमें बता सकता हूँ। इन सब बातोंपर लिखनेका मेरा अधिकार है, परन्तु मोक्षके बारेमें लिखनेका मुझे कोई अधिकार नहीं है।"

उनके इस ग्रन्थका एलेलशिगन पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। उसने तिरुवल्लुवरको विनयपूर्वक कहा : "गुरुदेव, मैं आपको एक और प्रार्थना करना चाहता हूँ। आप इस ग्रन्थको मदुराके पण्डितोंकी सभाके समक्ष रखें। वे प्रखर पण्डित आपके इस उत्तम ग्रन्थका उचित मूल्यांकन अवश्य करेंगे एवं उसे उत्तम ग्रन्थके रूपमें मान्य करेंगे। ऐसा होगा तो सब लोग उसका लाभ ले सकेंगे।"

तिरुवल्लुवरने उनके सुझावको मान लिया और वे मदुरा गये। मदुराकी पण्डितसभाने पूरे ग्रन्थका अनुशीलन करके सर्वसम्मतिसे उस ग्रन्थको तामिल-माषाका वेद घोषित किया। पण्डितोंने तिरुवल्लुवरका प्रेमपूर्वक सम्मान किया।

यह काव्य जिस छन्दमें रचा गया है, उसे तमिलमें 'कुरल' कहते हैं। इसलिए उनके इस ग्रन्थका नाम 'तिरुक्कुरळ'—पवित्र कुरळ—हुआ और वल्लुवरको लोग तबसे 'तिरु-वल्लुवर, सन्त वल्लुवर कहने लगे।

बादमें मदुराके पण्डितोंने तिरु-वल्लुवरको आग्रहपूर्वक प्रार्थना की कि "आप यहीं रहकर और भी दूसरे ग्रन्थ लिखकर भाषा और साहित्यकी सेवा करें तो कितना अच्छा होगा!'

परन्तु तिरुवल्लुवरने नम्रतापूर्वक कहा : 'मैं कवि नहीं हूँ। मैं तो एक साधारण आदमी हूँ। मुझे अपने जीवनके थोड़े-बहुत जो अनुभव हुए, उनका लाभ दूसरोंको मिले, इस उद्देश्यसे मैंने ग्रन्थकी रचना की है। अब मुझे कविता लिखना नहीं है।'

तिरुवल्लुवर अपने घर लौटे और बुनकरका काम करने लगे। चारों दिशाओंमें उनका यशोगान हो रहा था। परन्तु इससे वे तनिक भी प्रभा-वित नहीं हुए। वे पूर्ववत् सादगीसे अपना जीवन बिताते रहे। इस प्रकार साधुचरित, सरल और परिश्रमी जीवन जीते हुए उन्होंने अपनी इह-लीला समाप्त की।

इस प्रकार दक्षिणके महान् सन्त-पुरुष तिरुवल्लुवरका जीवन समाप्त हुआ, परन्तु उनकी सन्तवाणी अभी तक लोकहृदयमें जीवित है। इस जीवित वाणीका कुछ प्रसाद यहाँ सुलभ है।

(१) जो परमात्माके चरणोंकी शरण लेते हैं, वे जन्म-मरणके अनन्त महासागरको पार कर जाते हैं, दूसरे नहीं।

(२) वर्षाकी अचूक वृष्टि ही पृथ्वीका जीवनसूत्र है; वर्षाको अमृत-रूपमें देखो—अमृत अर्थात् देवताओंका पेय।

(३) हृदयसे शुद्ध हो जाओ, इस एक अनुशासनमें समग्र धर्मका समावेश हो जाता है। शेष सारा माया-विस्तार है।

(४) स्त्रीको बन्धनमें रखनेका क्या अर्थ है? उसके शीलकी वास्तविक रक्षा तो उसका अन्तःकरण ही करता है।

(५) प्रेम सदाचारियोंके लिए ही है, ऐसा कहनेवाले मूर्ख हैं। दुर्जनोंके समक्ष भी मनुष्यका सच्चा साथी प्रेम ही है।

(६) द्वारपर आये अतिथिका आदर करनेमें जो नहीं चूकता, उसका कभी अशुभ नहीं होता।

(७) किसी मनुष्योंने तुम्हारे मुँहपर ही तुम्हारा अपमान भले किया हो, तुम उसकी अनुपस्थितिमें भी उसकी निन्दा मत करो।

(८) पूर्ण दृष्टिवाले गलतीसे भी मिथ्यावाणीका उच्चारण नहीं करते।

(९) गरीबोंके पेट काटकर खानेवाले क्षुधाको शांत करना, इसी उपायसे श्रीमान् मनुष्य दुर्दैवके दिनोंमें सुरक्षित रहनेका पुण्य प्राप्त करते हैं।

(१०) जब तू असहायको पीड़ित करना चाहे तब अधिक बलवान्के सम्मुख भयसे कांपते हुए तेरे भीतर क्या अनुभव होता था, उसे याद कर।

दीर्घायुका रहस्य

एक अमरीकी डाक्टरका कहना है कि दीर्घायुका रहस्य यह है कि यदि जिन्दगी बड़ी कठिनाईमें गुजर रही हो तो उस जीवन-प्रणालीसे हट जाय।

विस्कान्सिन विश्वविद्यालयके डॉ० राबर्ट सैम्पने ८९ बूढ़ोंसे मुलाकातके बाद, जिनमें ३० शतजीवी थे, कहा कि इन सब लोगोंमें यह बात पायी गयी कि भावनात्मक या शारीरिक स्वास्थ्यको नष्ट करनेवाले किसी भी फन्देसे हटनेकी क्षमता इनमें है। यह परिवर्तन कठोर भी हो सकता है। इसका यह अर्थ है कि यदि काम वातावरण, स्थान, परिवार, प्रेमी, दर्शन या देश सुयोग्य नहीं है तो उसका त्याग किया जा सकता है।

—न० भा० टा०

गीत

इन्सान माटीभर है।
जाने ढह जाये कब ये।
रहना सदा डर है॥

पाँच तत्त्वसे बना हुआ,
मोह - मायामें बँधा हुआ,
ना सजा इसे तू प्यारे…,
ये हाड़-मांसका घर है॥
इन्सान माटीभर है॥

जिस कारीगरने इसे बनाया,
विविध रँगोंसे इसे सजाया,
है अजर - अमर वो……,
पर खिलौना नश्वर है॥
इन्सान माटीभर है॥

आँख फूटे फिर ना लगे,
प्राण छूटे फिर ना बसे,
है माया उसकी निराली…,
और कला अमर है॥

इन्सान माटीभर है
जाने ढह जाये कब ये
रहता सदा डर है॥

—— श्री वीरेन्द्र त्यागी ——

[डी–३, कालकाजी कॉलोनी, नयी दिल्ली–११००१९]

औपनिषद विद्याकी आवश्यकता

— पण्डितराज परक्कजे श्री सुब्रह्मण्य भट्ट —

[कन्यान, दक्षिण कन्नड]

(५)

(गतांकसे आगे)

१३. निसर्गवादीके मतका खण्डन :

जबतक विरुद्धस्वभाववाले जीव और ब्रह्मकी एकताका सार्वजनीन अनुभव-प्रामाण्यसे उपपत्तिसहित प्रतिपादन नहीं हो जाता तबतक औपनिषद विद्याका पूर्वोक्त स्वरूप सिद्ध नहीं होगा। अतः युक्ति और प्रमाणके द्वारा जीव और ब्रह्मके लक्षणका निरूपण अपेक्षित है। उसी प्रसंगमें प्रपञ्चमिथ्यात्व आदि उपनिषत्सिद्धान्तके कुछ विषयोंका भी प्रतिपादन होना चाहिए। पहले कहा गया है कि निसर्गवादी श्रुति, स्मृति आदिको प्रमाण नहीं मानता। उसका खण्डन करनेके लिए एकमात्र वेदान्ती ही समर्थ है; क्योंकि उसीके पास सार्वजनीन अनुभवरूप औपनिषद ब्रह्मास्त्र हैं। अतः औपनिषद-सिद्धान्तके अनुसार निसर्गवादका प्रतिविधान करते हैं। इसके बाद संक्षेपमें यथामति इस बातका निरूपण भी करेंगे कि उपनिषदोंके सिद्धान्त सब लोगोंके अनुभवसे सिद्ध हैं। अतः कोई भी उनका अपलाप नहीं कर सकता।

निसर्गवादी कहता है कि "आत्माका कर्तृत्व भोक्तृत्व एवं 'मुझे सुख मिले, दुःख न मिले' इस प्रकारकी अभिलाषा निसर्गसिद्ध है। अतः शरीरको अधिकाधिक सुख पहुँचाना और उसे दुःखसे बचाना ही मानवकी जीवन-यात्राका उद्देश्य है।" परन्तु उसका यह कथन समीचीन नहीं है, इसका पहले संक्षेपसे उपपादन किया जा चुका है। यथा—

इन्द्रिय और विषयके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सुख दुःख शीतोष्णादि बाह्य भौतिक पदार्थोंकी तरह यतः आगमापायी और ज्ञेय हैं, अतः वे नित्य एवं ज्ञाता आत्माके धर्म नहीं हो सकते। इस प्रकार सांसारिक सुख

सुखाभास ही है, यह सिद्ध होता है। अतः पूर्वोक्त प्रकारसे जीवन-यात्रा करना मानवका लक्ष्य नहीं है। प्रत्युत परमार्थभूत आत्मानन्दकी प्राप्ति ही मानवजीवनका चरम लक्ष्य है। स्पष्ट है कि सुखके हेतुभूत स्त्री, पुत्र, वित्त आदि आत्माके लिए ही प्रिय होते हैं और आत्मा दूसरेके लिए नहीं, अपने लिए प्रिय ही होता है। समस्त संसार-धर्मोंसे वर्जित परमानन्दरूपता ही आत्माका यथार्थस्वरूप है। यही मानव-जीवनमें वास्तविक ज्ञेय है।

मानवका जन्मान्तर, लोकान्तरके साथ सम्बन्ध बतलानेवाले शास्त्रके प्रामाण्यके विषयमें जो कहा गया है कि मनुष्यका नैसर्गिक व्यवहार प्रत्यक्ष एवं तदुपजीवक अनुमान तथा आप्तवाक्यरूप प्रमाणोंसे चलता है, पर शास्त्रीय व्यवहारका उससे विरोध है। उसके बारेमें हम यह पूछना चाहते हैं कि आखिर यह निसर्ग क्या है? यदि कहो कि 'प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्तवाक्यको ही प्रमाण माननेका जो स्वभाव है वही मनुष्यका निसर्ग है'; ऐसा तो वह ठीक नहीं; क्योंकि यह बात सब लोगों पर लागू नहीं होती। कारण प्रत्यक्षादि तीन प्रमाणोंसे अतिरिक्त शास्त्रको भी बहुत-से लोग प्रमाण मानते हैं। अतः शास्त्रको भी प्रमाणरूपसे मानना किन्हीं लोगोंका निसर्ग ही है, अन्धपरम्परा नहीं—यही कहना पड़ेगा।

शंका : तब तो अन्ध-परम्पराका अनुसरण करना कुछ लोगोंका स्वभाव है—यह भी अङ्गीकार हो जायगा।

समाधान : आपने बहुत कम कहा। औपनिषद सिद्धान्त तो यह है कि सबका सब सांसारिक व्यवहार मिथ्याज्ञानमूलक होनेसे अन्धपरम्परा ही है। क्योंकि आत्मा परमार्थतः नित्य-शुद्ध-बुद्ध मुक्तस्वभाव है, उसका शरीरोपन मिथ्याज्ञान - कल्पित है। इस प्रकार शास्त्रीय-व्यवहारके साथ लौकिक व्यवहार भी अन्धपरम्पराकी कोटिमें प्रविष्ट हो गया और यहाँ 'सहेन्द्राय तक्षकाय स्वाहा' की उक्ति घटित हो गयी। अतः औपनिषद सिद्धान्तके अनुसार लौकिक और शास्त्रीय दोनों व्यवहार मिथ्याज्ञान-रूप भावनासे ही चलते हैं। लौकिक व्यवहारको सत्य और शास्त्रीय व्यवहारको मिथ्या माननेमें 'अर्ध-जरतीय' न्याय प्रसक्त होगा। रज्जुमें परमार्थतः सर्प नहीं है। फिर भी उसमें सर्पकी भ्रान्तिसे भय, कम्प, पलायन आदि कार्य देखा जाता है। भोजनमें विषकी मिथ्या आशंकासे मृत्यु हो जाती है। इसी प्रकार शास्त्रविहित कर्मानुष्ठानसे तत्तत्फलकी प्राप्ति भी भावनामात्रसे ही हो जाती है, यह भी अंगीकार करना चाहिए। क्योंकि श्रद्धा-विश्वास ही सर्वत्र फल-दायक है, ऐसा लोकमें प्रसिद्ध है। 'विश्वासः फलदायकः' श्रुति भी है।

श्रद्धाविश्वमिदं जगत्,
श्रद्धां कामस्य मातरम्।
हविषा वर्धयामसि ॥
और श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ऐसी स्मृति भी है। इस प्रकार औपनिषद सिद्धान्तके अनुसार ब्रह्मात्मता-बोधके पहले सारे व्यवहारकी एक जैसी गति है। सूत्र-भाष्यमें कहा है: तस्मात् प्राग्ब्रह्मात्मताप्रतिबोधात् उपपन्नः सर्वो लौकिको वैदिकश्च व्यवहारः। अर्थात् इसलिए ब्रह्मज्ञान होनेतक लौकिक व्यवहारका बाध न होनेसे उसको प्रामाणिक माना जाता है। इसी प्रकार शास्त्रीय व्यवहारका प्रामाण्य माननेमें भी कोई विरोध नहीं है।

निसर्गवादी : औपनिषद सिद्धान्तकी दृष्टिसे आपका कथन ठीक हो सकता है। व्यावहारिक दृष्टिसे तो शास्त्रका प्रामाण्य युक्तियुक्त नहीं है; क्योंकि उसका प्रत्यक्ष नहीं होता।

शास्त्रवादी : आप्त (प्रामाणिक) पुरुषके द्वारा बतायी गयी किसी वस्तुका यदि आपको जीवनपर्यन्त भी प्रत्यक्ष न हो तो उसे प्रामाणिक मानेंगे या नहीं ?

निसर्गवादी : मानेंगे; क्योंकि आप्त-पुरुषोंकी कुछ बातोंका प्रत्यक्ष हो जानेसे उनका प्रामाण्य निश्चित है। अतः जिनका प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता, उनका भी विश्वासके आधारपर प्रामाण्य मान लेनेमें कोई विरोध नहीं है।

शास्त्रवादी : तब तो वेदके उपनिषद्भागका प्रामाण्य निश्चित है; क्योंकि वह अनुभवानुसारी आत्माके असंसारित्वरूप वस्तुतत्त्वका प्रतिपादक है। अतः प्रत्यक्षानुभव न होनेपर भी कर्मप्रतिपादक वेदभागका प्रामाण्य माननेमें कोई विरोध नहीं और वेदका भाग होनेसे उसका भी प्रामाण्य निश्चित है। इस प्रकार ज्योतिष्टोम, ब्रह्महत्यादिरूप कर्मों और स्वर्ग-नरकादिरूप उनके फलोंका प्रत्यक्षसिद्ध अन्वय-व्यतिरेक न होनेपर भी कार्यकारणभाव युक्तियुक्त है।

निसर्गवादी : परोक्ष स्वर्गादिरूप फलोंका ज्योतिष्टोम आदिके साथ कार्यकारणभाव तो आप कथंचित् सिद्ध कर सकते हैं। किन्तु दृष्टफलक कारीरीष्टि, पुत्रकामेष्टि, चित्रायाग आदिका वृष्टि, पुत्र, पशु आदिके साथ कार्यकारणभाव कैसे सिद्ध होगा; क्योंकि कारीरी आदि करनेपर भी कभी वृष्टि आदि नहीं होती ?

शास्त्रवादी : वहाँपर भी वेदप्रतिपादित होनेके कारण कार्यकारणभाव मानना होगा। वृष्टि आदिका निश्चित रूपसे न होना तो किसी प्रतिबन्ध-विशेषके कारण हो जाता है। किसी स्थलमें व्यभिचरित होनेसे कार्यकारणभावका परित्याग उचित नहीं। अन्यथा दाह और वह्निका भी

कार्यकारणभाव छोड़ना पड़ेगा; क्योंकि वहाँ भी चन्द्रकान्त मणि, मन्त्र और औषधादिके प्रतिबन्धसे दाहका अभाव देखा जाता है। वैसे ही किसी खास दवाका खास रोगके साथ निवर्त्य-निवर्तकभाव और स्त्री-पुरुष-समागमका गर्भोत्पत्तिके साथ कार्यकारणभाव भी खटाईमें पड़ जायगा; क्योंकि वहाँ भी प्रतिबन्ध-विशेषके कारण फलाभाव देखा जाता है। अतः इन स्थलविशेषोंकी जो संगति लगेगी, वही शास्त्रीय कर्मोंके बारेमें लग जायगी। आप एक भी तो ऐसा कार्यकारणभाव दिखलाइये जिसमें कहीं अनिश्चय न हो। अतः कार्यकारणभावके निर्णयमें अनादिसिद्ध लोकव्यवहार ही प्रमाण है। तर्कसे उसका निर्णय नहीं हो सकता। इसलिए अनादिकालसे चली आ रही शास्त्रानुसारी प्रवृत्ति अन्धपरम्परा नहीं है।

निसर्गवादी : जन्मान्तरीय कर्म और जन्मान्तरीय सुख-दुःखका कार्य-कारणभाव मानवबुद्धिसे अगोचर है। फिर वह क्यों माना जाता है? वैसा कार्यकारणभाव माननेका कोई प्रयोजन भी नहीं दीखता, क्योंकि भावीजन्म-सम्बन्धी व्यवहारका ज्ञान संभव न होनेसे उसके अनुरोधसे इस जन्ममें कर्म करना संभव नहीं।

शास्त्रवादी : पूर्वोक्त रीतिसे शास्त्रका प्रामाण्य सिद्ध होनेपर शास्त्रप्रतिपादित होनेसे यह कार्य-कारणभाव भी मानना चाहिए; क्योंकि मानवकी विचारशक्तिसे परे होनेके कारण इसका बाधक कोई प्रमाण नहीं है। अच्छा, आपको शास्त्रकी अपेक्षा युक्ति अधिक प्रिय है तो युक्ति भी देते हैं। दूसरे जन्मके कर्मों और सुख-दुःखके कार्य-कारणभावका विचार एक क्षणके लिए छोड़ दें। पहले हम यह पूछते हैं कि क्या आप जन्मान्तर मानते हैं? 'नहीं मानते' ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि आपके अनुभवसे ही विरोध होगा। अपूर्व शरीरके साथ सम्बन्ध और तत्सम्बन्धी सुख-दुःखका अनुभव स्वप्नमें आपको भी होता है। वह वास्तविक न होनेपर भी भावनातिशयके बलपर होता है। जाग्रत्-अवस्थामें जिस विषयका निरन्तर तीव्र चिन्तन होता है; अथवा नैरन्तर्यको जाने दीजिये, एकबार भी तीव्र चिन्तन होता है, वही स्वप्नमें दिखायी पड़ता है—यह सबका अनुभव है। जैसे निरन्तर सम्पत्तिका चिन्तन करनेवाले निर्धन व्यक्तिको स्वप्नमें ऐश्वर्य दिखलायी पड़ता है और निरन्तर आरोग्यका चिन्तन करनेवाले महारोगीको स्वस्थ सुन्दर शरीर। यद्यपि जाग्रत्-कालमें मनमें बार-बार आनेवाले कुछ विषय बहुत काल बीतनेपर भी स्वप्नमें दिखायी नहीं पड़ते और जाग्रत्कालमें एकबार भी मनमें न आनेवाले विषय, जैसे पत्थरका तैरना

और आकाशमें उड़ना आदि भी, कदाचित् स्वप्नमें दीख पड़ते हैं। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेकका व्यभिचार स्पष्ट है। तथापि जाग्रत्कालीन भावना-तिशय और स्वप्नमें तदनुरूप वस्तुका दर्शन, दोनोंके कार्यकारणभावका अप-लाप नहीं किया जा सकता। बड़े बूढ़ोंका अनुभवानुसारी व्यवहार भी देखा जाता है : हे वत्स! अत्यन्त-दुःखदायी इस चिन्ताको बार-बार मनमें न लाओ। नहीं तो स्वप्नमें भी यह तुम्हें सतायेगी। बार-बार मनमें आनेवाली वस्तुओंका स्वप्नमें अदर्शन बलवत्तर भावनान्तरके प्रति-बन्धसे भी हो सकता है। उतने मात्रसे पूर्वोक्त उदाहरणसे सिद्ध कार्यकारणभावका परित्याग युक्त नहीं है; क्योंकि कार्यकारणभावका निर्णय लोक-व्यवहाराधीन है।

प्रश्न होता है कि जाग्रत्में कभी मनमें न आनेवाले विषयोंकी स्वप्नमें उपस्थिति कैसे हो जाती है? यदि कहें कि इस जन्ममें मनमें न आनेपर भी दूसरे जन्ममें वे मनके गोचर हो सकते हैं, तो यह कथन भी ठीक नहीं बनता; क्योंकि दूसरे जन्मका अस्तित्व ही अभी विचाराधीन है। इसका उत्तर यह है कि इस व्यतिरेक व्यभि-चारको माननेपर भी अन्वय-सहचार-सिद्ध कार्यकारणभावका परित्याग युक्त नहीं है; क्योंकि सार्वजनीन अनु-भवसे विरोध होगा। 'जाग्रत्कालिक भावनातिशयसे ही यह दुःस्वप्न मुझको हुआ है' इस प्रकार सभी अपना अनुभव कहते हैं। उसका कोई अप-वाद भी नहीं है। अतः प्रदर्शित व्यतिरेक - व्यभिचार प्रकृतमें अकिं-चित्कर है। व्यतिरेक-सहचारकी कार्य-कारणभाव-निर्णयमें हेतुता जाग्रत्-स्वप्नातिरिक्त स्थलमें ही है; क्योंकि कार्यकारणभावका निर्णय लोक-व्यवहाराधीन है। भाष्यमें भी जाग्रत्-कालीन वासनाको ही स्वप्नका निमित्त बतलाया गया है।

ग्रहणाज्जागरितवत्
तद्धेतुः स्वप्न इष्यते।
तद्धेतुत्वाच्च तस्यैव
सज्जागरितमिष्यते ॥
(४.३७)

इस माण्डूक्य - कारिकामें भी जाग्रत्को स्वप्नका हेतु बताया है। इस प्रकार जाग्रत्-स्वप्नका कार्य-कारणभाव विषयविशेषके अनुरोधसे ही मानना चाहिए। कहीं है तो कहीं नहीं भी है; क्योंकि वैसा ही अनुभव होता है। अनुभवके विरुद्ध तर्क उपस्थित करना अयुक्त है। इस तरह विषयके विद्यमान न होनेपर भी केवल भावनामात्रसे विषयकी उपस्थिति स्वप्न-व्यवहारसे अनुभव-सिद्ध है। जब इस शरीरके रहते ही ऐसा हो सकता है, तब इस शरीरके नष्ट होनेके बाद मरण-कालीन भावना शरीरान्तरको पैदा

कर सकती है, यही भगवान्ने गीतामें कहा है :

यं यं वापि स्मरन् भावं···इत्यादि।

इस तरह मृत्युके समय कोई मनोनिग्रह द्वारा यदि अच्छी भावना करता है तो अच्छा जन्म प्राप्त करता है और यदि बुरी भावना करता है तो बुरा। इस प्रकार भावनाके द्वारा यथेष्ट जन्मकी प्राप्ति की जा सकती है। अतः जन्मान्तरीय कर्म जन्मान्तरीय सुख-दुःखके हेतु हैं, यह अनुमान भी सप्रयोजन है तथा यह कथन मानवके नैसर्गिक व्यवहारके विरुद्ध भी नहीं है। अतएव जैसा कार्यकारणभाव माने बिना लोक-व्यवहारका उच्छेद या प्रतिबन्ध होता हो, वैसा ही कार्य-कारणभाव अङ्गीकार-योग्य है, इस न्यायके साथ भी विरोध नहीं है।

इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि पैदा होनेपर शिशुकी स्तन्यपानमें प्रवृत्ति और बछड़ेकी हम्बा-शब्दसे माँको बुलानेकी प्रवृत्ति भी जन्मान्तरीय-संस्कारसे ही होती है।

शंका : यह ठीक नहीं है। यदि उक्त प्रवृत्तिको संस्कारजन्य मानें तो वहाँ स्मरण भी होना चाहिए। परन्तु होता नहीं है। 'मैंने पूर्वजन्ममें चूसकर स्तनसे क्षीर पिया था, अतः अब भी वैसा करूँगा' इस प्रकार स्मरण करके शिशु दूध नहीं पीता। किन्तु निसर्गसे ही प्रेरित होकर वैसा करता है। इसलिए वहाँ संस्कारका कारणरूपसे अनुमान करना युक्त नहीं है।

समाधान : आपकी शंका ठीक नहीं। हमारे दैनन्दिन व्यवहारमें भी इस प्रकारका स्मरणरहित संस्कार-हेतुक व्यवहार देखा जाता है। जैसे कोई पुस्तकके बिना गीताका पारायण कर रहा है। वह 'मैंने कल इस श्लोकके बाद यह श्लोक पढ़ा था, अतः आज भी वैसा ही करूँगा' इस प्रकार स्मरण करके उत्तरोत्तर श्लोकोंको नहीं पढ़ता। परन्तु श्लोक तो उत्तरोत्तर मनमें स्फुरित होते ही हैं। वैसा स्फुरण पूर्वपूर्वपाठजनित संस्कारके बिना नहीं हो सकता। संस्कारजन्य होनेपर भी वहाँ 'स्मृतित्व'का व्यवहार नहीं होता। अतः 'सोऽयं देवदत्तः' आदि प्रत्यभिज्ञास्थलमें ही तत्ताका स्मरण होता है, स्मृतिमात्रमें नहीं। संस्कारके उद्बोधककी अपेक्षा तो स्तन्यपान-प्रवृत्तिस्थलमें शैशवावस्था-रूप उद्बोधक है ही। इसी प्रकार कौमार, यौवन आदि अवस्थाएँ भी तत्तत्सम्बन्धी व्यवहारके जनक तत्तत् संस्कारकी उद्बोधक हैं।

इस प्रकार एकजन्मसम्बन्धी व्यवहार संस्कारद्वारा जन्मान्तरीय व्यवहारके प्रति हेतु है, यह उप-पत्तिसिद्ध हो गया। तब 'पूर्वजन्ममें यह मेरी माता थी, इसका अमुक नाम था' आदि पूर्वजन्मसम्बन्धी वृत्तान्तका ज्ञान भी युक्तियुक्त है।

बुद्धिशक्तिके प्रकर्षसे कुछ लोगोंको जन्मान्तरसम्बन्धी वृत्तान्तका ज्ञान होनेमें बाधक नहीं है। शारीरिक बल-के तारतम्यकी तरह बुद्धिबलका तारतम्य भी संसारमें निसर्गसे ही देखा जाता है। केवल निसर्गसे ही नहीं, पुरुषप्रयत्नसे भी उसका सम्पादन किया जा सकता है। आलसी और अनुद्यमी पुरुषोंकी अपेक्षा सतत उद्योगशील एवं कर्मनिरत पुरुषोंकी बुद्धिशक्ति क्रमशः बढ़ती है, ऐसा व्यवहारमें प्रत्यक्ष देखा जाता है। ऐसी स्थितिमें मनोनिग्रहपूर्वक मरण-कालीन भावनाबलसे संस्कृत बुद्धि यदि अगले जन्ममें भी पूर्वजन्मके वृत्तान्तको ठीक-ठीक स्मरण रखे तो इसमें क्या अनुपपत्ति है? अतः यह कहना उचित नहीं कि जन्मान्तरको सुधारने या बिगाड़नेवाली बुद्धिका निर्माण नहीं हो सकता। इसलिए 'ये मेरे हैं' इस प्रकार अपना सम्बन्ध बतलाना भी विश्वसनीय है। साँपका भागवत सुनना और अन्तिम दिन देह त्यागना भी इसी प्रकार उपपन्न है। मनुष्योंकी तरह सर्प भी प्राणी हैं, अतः बुद्धिका तारतम्य और तन्निमित्तक कार्य उनमें भी सम्भव है। काकतालीय न्यायसे उसे अन्यथासिद्ध कहना न्याय्य नहीं।

मानवशरीरोंमें दृश्यमान आकार, परिमाणादिका भेद भी निसर्गसे ही है—यह निर्णय नहीं किया जा सकता; क्योंकि उपर्युक्त रीतिसे इच्छानुरूप भेदका सम्पादन किया जा सकता है। परन्तु यह बात अवश्य है कि मृत्युके समय मन वशमें न रहनेसे इच्छानुसार भावना करना असम्भव-सा हो जाता है। उस समय जैसे-तैसे जो भावना उत्पन्न हो जाती है उसीके अनुसार शरीर एवं आकार, परिमाणादिमें भेद हो जाता है। मनोनिग्रहपूर्वक भावना-बलसे तो यथेच्छ जन्म प्राप्त किया जा सकता है। हमारे कथनका सार यही है कि यह द्वैत-प्रपञ्च केवल भावनामात्र है; क्योंकि यह बात स्वप्न-दृष्टान्तसे सबको अनुभवसिद्ध है। माण्डूक्य-कारिकामें कहा है :

मनोदृश्यमिदं द्वैतं
यत्किञ्चित् सचराचरम्।
मनसो ह्यमनीभावे
द्वैतं नैवोपलभ्यते॥

अतः यह कहना कि मानव एकान्ततः निसर्ग-पर-वश है, ठीक नहीं। कूष्माण्डफलोंमें जो आकारादिका भेद है, वह तत्तदधिष्ठातृ जीवोंके कर्मोंके कारण है। वह्नि उष्ण क्यों है, यह तो प्रश्न ही नहीं उठता; क्योंकि निसर्ग (Nature) के सम्बन्धमें कारणका प्रश्न अनुचित है—ऐसा हम भी मानते हैं। अन्यथा यदि अग्निके स्थानपर जल उष्ण होता तब भी यह प्रश्न उठता कि जल गर्म क्यों है?

यदि आप निसर्गवादके आधारपर

पुनर्जन्म, पुण्य-पाप और तदनुसार सुख-दुःखका खण्डन करते हैं और संसारी सुखको ही परमपुरुषार्थ मानते हैं, तब तो मानव केवल स्वार्थपरायण रह जायगा और उसमें पशु-पक्षी आदिसे कोई विशेषता न रह जायगी। यह ठीक है कि कुछ व्यक्ति निसर्गसे ही परोपकारमें प्रवृत्त होते हैं और हिंसादिसे निवृत्त रहते हैं। किन्तु उतने मात्रसे 'सभी लोग वैसा ही करें' यह नियम नहीं बनाया जा सकता। क्योंकि दूसरेको पीड़ा पहुँचाकर भी प्रायः सभी प्राणी अपनी उदरपूर्तिमें निसर्गसे ही लगे हुए हैं। मांसभक्षी सिंह-व्याघ्रादि अतिदारुण हिंसा करके अपना पेट भरते हैं, किन्तु उनको पाप छूतातक नहीं; क्योंकि निसर्गप्राप्त अपनी रक्षणशीलताका कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता। मृग आदि पशु स्वयं तो उनके मुखमें जाकर नहीं गिरेंगे। वे तो आक्रमण होनेपर अपनी जान बचानेके लिए भागेंगे। उनको भी स्वार्थी नहीं कह सकते; क्योंकि सिंहादिके समान वे भी आत्मरक्षा करना चाहते हैं। इसलिए जिस प्रकार वे स्वयं आत्मरक्षामें तत्पर होते हैं और परपीडासे उन्हें पाप नहीं लगता वैसा, ही मनुष्योंमें भी होने लगेगा। इस प्रकार लोक-व्यवहार ही उच्छिन्न हो जायगा। अतः शास्त्रको प्रमाण मानकर आस्तिकबुद्धिसे व्यवहार करना मानवजीवनमें आवश्यक होनेसे निसर्गवाद अप्रामाणिक है।

निसर्गवादके इस खण्डनका सार यह है कि प्राणियोंको अपने वशमें रखनेवाला 'निसर्ग' नामका कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। अपने आत्माके अज्ञानसे समुत्थ नाम-रूपात्मक मायाके वशमें होना ही निसर्ग है। आत्माके नित्य-शुद्ध-बुद्ध मुक्तस्वरूपको जान लेनेपर निसर्ग नामकी कोई चीज नहीं रहती। आत्माके स्वरूपका ज्ञान श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा होता है। अतः वेदान्तसिद्धान्तके सामने निसर्गवाद ठहर नहीं सकता। व्यवहारमें भी भी योगकी सिद्धियों द्वारा नैसर्गिक नियमका अतिक्रमण हो सकता है। अतः निसर्ग-परवशताके ढोलमें पोल है। इस प्रकार निसर्गवाद निस्सार और अविचारित-रमणीय है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

●

भगवान्‌के साथ जागो और उन्हींके साथ सोओ। उन्हींके साथ चलो और उन्हींके साथ बैठो। तुम्हारे जीवनकी प्रत्येक क्रिया, तुम्हारा प्रत्येक सङ्कल्प भगवान्‌के साथ ही हो। इस मधुरतम भावनासे, जो कि परम सत्य है, तुम्हारा जीवन सत्य, ज्ञान और आनन्दका भंडार हो जायगा। तुम सर्वदाके लिए परमात्माको प्राप्त कर लोगे। ●

अन्ध-विश्वासका वैज्ञानिक विश्लेषण

— जनाब फ़रहत क़मर —

[बटला हाउस, नयी दिल्ली—२५]

कल शाम घरमें नमक नहीं था। मैं पासकी दूकानपर गया तो दूकानदारने कहा : 'इस समय नहीं।'

'क्यों भई, अभी तो सात बजे हैं। दूकान बन्द करनेकी जल्दी क्या है ?' —मैंने कहा। परंतु बात समयकी नहीं, नमककी थी।

'तब ?'

'हम रातको नमक नहीं दिया करते।'—उसने कहा और मेरे 'क्यों ?' का उसके पास कोई उत्तर नहीं था। बस, 'अपशकुन'की बात थी।

शकुन-अपशकुनकी भावना शिक्षित तथा अशिक्षित सभीके व्यवहारको प्रभावित करती रहती है। केवल हमारे देशमें ही ऐसा नहीं होता। भिन्न-भिन्न देशों और भिन्न-भिन्न जातियोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारके शकुन सामान्यतः माननीय है। नयी दिल्लीकी बहुत-सी कोठियोंके मुखपर यदि आपको एक हाँडी उलटी लटकी दिखायी देगी तो यूरोपके बहुतसे घरोंके मुख्यद्वारपर घोड़ेका नाल गड़ा हुआ मिलेगा। यदि हिन्दूके घरमें पायँती ऊपरकी ओर खड़ी करनेसे कोई आपत्ति आ सकती है, तो मुसलमान भी काले जूतेको मनहूस समझते हैं। एक इण्डोनेशियन यदि प्रेतात्माओंको प्रसन्न करनेके लिए काले बकरेके रक्तको बलि चढ़ाता है, तो एस्कीमू भी अपने 'इगलू'के प्रवेशस्थानमें एक हड्डी लगा देते हैं। कहीं तीनका अंक शुभ है तो कहीं तेरहका अशुभ। हिन्दीमें उल्लूकी आवाजसे 'उल्लू बोलने' तथा 'उल्लू बनानेका' मुहावरा बना है, तो अंग्रेजीमें उल्लूको 'बुद्धिहीन' लिखा जाता है।

कल मैंने रसायनशास्त्रके प्राध्यापकसे, जो मेरे मित्र हैं, इस विषयपर बातें की तो उन्होंने ऐसी बातोंको 'अन्ध-विश्वास' तथा 'निराधार' कहनेके बावजूद दो घटनाएँ ऐसी सुना दीं, जिनमें तेलीके रास्तेमें मिल जानेपर उनके पिताजीको और बुधवारको किसीके घरसे लौटनेपर एक

सम्बन्धीकी मृत्युका वृत्तान्त था। इस सन्दर्भमें उन्होंने एक छन्द भी सुनाया :

तीन कोस तक मिल जाये तेली।
जानो मौत सीसपर खेली॥

'क्या आपके विचारमें ऐसी घटनाओंकी कोई वैज्ञानिक व्याख्या हो सकती है?'—मैंने उनसे पूछा।

'नहीं ऽऽऽ, बस मनोवैज्ञानिक कारण हो सकता है, ज्यादासे ज्यादा!'—वे बोले—'मैं व्यक्तिगत रूपसे इन बातोंको नहीं मानता, परन्तु अवचेतनमें ऐसी अनेक धारणाएँ जोंककी भाँति चिपकी रहती हैं।'

वे शिक्षित व्यक्ति, जो इस विषयको 'कोरा अन्ध-विश्वास' कहकर टाल देते हैं, वास्तव में अन्धविश्वाससे स्वयं भी मुक्त नहीं होते। उनके मनकी भूल-भुलैयामें शकुन-अपशकुनके विचार नन्हें कीड़ोंकी भाँति रेंगते रहते हैं। वे अपने चेतनके सहारे इनको चुन-चुनकर फेंकनेका लाख प्रयत्न करें, पर चेतनके हाथ अवचेतनतक कहाँ पहुँच पाते हैं?

अन्ध-विश्वासमें विश्वास विश्वव्यापी है और इसका इतिहास उतना ही पुराना है, जितना मानव-मस्तिष्क! जब आदिमानवने इस विचित्र, विशाल संसारमें बिखरे 'चमत्कार' देखे, तो उसके मनकी आँखें फटी-की-फटी रह गयीं। सूर्यका उगना, चन्द्रमाका चमकना, दूर गगनमें तारोंका टिमटिमाना, बादलका बरसना तथा बिजलीका चमकना—सभी कुछ उसकी सीमित बुद्धि और अपर्याप्त अनुभवसे बाहर था—रहस्यपूर्ण तथा भयावह!

जिज्ञासा स्वाभाविक थी। कुछ 'बुद्धिमान्' व्यक्तियोंने अपनी कल्पनाके सहारे इन अज्ञात सत्योंको रहस्यके सुन्दर आवरणमें लपेट दिया और परिणामस्वरूप प्राचीन मिस्रियोंने सूर्यको देवता मानकर बड़े-बड़े मन्दिर बना डाले। यूनानवासियोंने भी सूर्यको एक प्रतापी देवता बनाकर आगसे बने चार घोड़ोंवाले, सुनहले रथमें बिठाकर उसको रोज पूर्वसे पश्चिमकी यात्रा करायी। चन्द्रमाको यदि यूनानियोंने 'डायना' नामक देवी माना; तो रोमवासियोंने उसे 'लूना' का नाम दिया।

भिन्न-भिन्न धर्मप्रचारकोंने जनसाधारणके मनोविज्ञानको समक्ष रखते हुए यही उचित समझा था कि अनेक गूढ़ बातोंकी बौद्धिक स्तरपर व्याख्या करनेकी बजाय उनपर 'धर्म' का लेबिल लगा दिया जाय। वे यह भी भलीभाँति समझते थे कि प्रत्येक न तो प्रत्येक बातको समझनेकी क्षमता रखता है और न प्रत्येक बात प्रत्येक व्यक्तिको समझानेकी आवश्यकता ही है। इस 'कूटनीति' का परिणाम यह निकला कि उपयोगिताको आदर और उपासनाके साँचेमें ढाल दिया गया। दानकी सामाजिक आव-

श्यकताको प्रेरणा देनेके लिए कुछ दिनोंपर शुभता और विशेषताकी छाप लगा दी गयी। हालाँ कि बैठकर आरामसे खाने और रुक-रुककर पानी पीनेका अपना स्वास्थ्यसम्बन्धी महत्त्व है, परन्तु एक सीधा-सादा मुसलमान ऐसा 'सुन्नत' समझकर ही करता हैं। उसे आरामसे खाना खानेके मनोवैज्ञानिक महत्त्व तथा जल्दो-जल्दी पानी पीनेसे होनेवाली हानिसे क्या लेना-देना है ?

आज जब कि विज्ञानने 'क्यों' और 'कैसे' की प्रवृत्तिको पूर्णरूपसे जाग्रत कर दिया है, क्या हम अन्ध-विश्वासको भी वैज्ञानिक कसौटीपर नहीं परख सकते ?

क्या ये सारी धारणाएँ कोरा अन्धविश्वास है ?

वास्तवमें ऐसा नहीं है !

दिशाशूलकी प्राचीन कालमें निःसंदेह एक महत्ता थी। यात्राकी दिशा और दिनोंके निर्माणसे अपने आप ही लोग एक विशेष दिन, एक विशेष दिशामें चल पड़े थे। एक ही रास्तेपर बहुत से व्यक्तियोंका मेल स्वाभाविक ही था और प्रत्यक्ष रूपसे पुराने समयके यात्रासम्बन्धी खतरोंसे बचनेके लिए यह बात क्रियात्मक रूपसे उपयोगी थी।

आज सभी जानते हैं कि छींक जुकामका लक्षण हो सकता है। यदि चलते समय स्वयंको या घरमें किसी औरको छींक आ जाती थी तो प्राचीन समयमें थोड़ा विलम्ब ही उचित था; क्योंकि उस समय न तो संचारके साधनोंकी गति तेज थी, न यातायातकी ! बीमार पड़ जानेपर न अपने घर शीघ्रतासे वापस आना संभव था, न कोई संदेश भेजना।

आज विज्ञान यह सिद्ध कर चुका है कि पशु-पक्षी उन ध्वनियोंको स्पष्टरूपसे सुन लेते हैं जो मानवको श्रवणशक्तिके क्षेत्रमें नहीं आ सकती। यह बात भी सिद्ध हो चुकी है कि पशु-पक्षी अपनी विशेष क्षमताओंके बलपर आनेवाले तूफानों आदिकी पूर्वसूचना प्राप्त कर लेते हैं। इसी आधारपर यदि प्राचीन समयमें पशु-पक्षियोंसे कुछ शकुनोंको सम्बन्धित कर दिया गया, तो वे आंशिक रूपसे तो सत्य हो ही सकते हैं।

चन्द्रमाकी गुरुत्वाकर्षण-शक्ति समुद्रमें ज्वारभाटा उत्पन्न कर देती है। दूसरी ओर चाँदनी रातमें मनुष्यके मनको भी कुछ आनन्द, कुछ स्फूर्ति, कुछ रोमांच कुछ मादकताका अनुभव होता है। सूर्यमें उठनेवाले बवण्डर नौ करोड़ मील दूरस्थित हमारी धरतीकी बहुत-सी क्रियाओंको प्रभावित कर देते हैं। ग्रहों, उपग्रहोंसे विद्युत-लहरें निकलती हैं और मनुष्य स्वयं अपने जीवनमें हरएक क्षण समस्त ब्रह्माण्डसे विद्युत्-लहरोंका आदान-प्रदान करता रहता है। यदि ये

वैज्ञानिक सत्य हैं, तो क्या मानव-मन तथा मानव-स्वास्थ्यपर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे ग्रहोंका प्रभाव पड़ना कोई विचित्र बात हो सकती है ?

पीपलपर 'भूत' होनेकी एक वैज्ञानिक व्याख्या की जा सकती है। पीपलके घने पत्ते कुछ इस प्रकार पेड़से लटके रहते हैं कि थोड़ी-सी हवामें खड़खड़ा उठते हैं—दूसरे वृक्षोंके पत्तोंकी अपेक्षा अधिक ! दूसरी ओर अपने घनत्वके कारण पीपलका वृक्ष रात्रिके समय अधिक ना ट्रोजन छोड़ता है। अब यदि पीपलके नीचे सोया कोई व्यक्ति आक्सीजनकी कमीसे अपना गला घुटता हुआ अनुभव करे और हड़बड़ाकर उठे और पत्तोंकी खड़खड़ाहट सुने, तो क्या रात्रिका रहस्यपूर्ण वातावरण और स्वयं उस व्यक्तिका भ्रम मिलकर एक सचमुच-का भूत उत्पन्न नहीं कर सकता ? घबराकर आँख खोलनेसे पहले, आक्सीजनकी कमीके कारण दिखायी देनेवाले भयावह सपने भी भूतकी पृष्ठभूमि बनानेमें सहायक हो सकते हैं।

इसी प्रकार हड्डियोंमें ...

भयभरी स्थिति इस दृश्यको 'भूतों' के भ्रममें परिवर्तित नहीं कर सकती ? रातके अन्धेरेमें किसी आहटपर अचानक आँख खुलनेपर दीवारपर रखा पत्थर या गमला चोरका सिर बन जाता है और हिलता भी 'दिखाई' देता है, यह एक साधारण-सा अनुभव है जो बहुत-से लोगोंको भिन्न भिन्न परिस्थितियोंमें भिन्न-भिन्न-रूपमें होता रहता है। मानव-मस्तिष्कको यह कल्पनाशक्ति यदि हड्डियोंके गन्धकको उछलते अँगारे बना दे, तो मनोविज्ञानके अनुसार यह कोई अद्भुत बात नहीं होगी।

बहुत-से वैज्ञानिक सत्य केवल इस कारणसे अन्ध-विश्वासकी सूचीमें आ जाते हैं कि उनको वैज्ञानिक दृष्टिसे न देखकर विश्वास तथा धारणाकी दृष्टिसे देखा जाता है और अन्ध-विश्वासकी ओर झुका चिन्तन उसे कुछ-का कुछ बना देता है। हीरा तथा अन्य मूल्यवान् पत्थर वास्तवमें साधारण पत्थर ही हैं, जो सूर्यकी विशेष किरणें तथा शक्तियोंको ग्रहण करके नया ...

शुरू किया। श्रीमहाराजजीने कहा : 'देखो, जिन बातोंमें हमारा मतभेद है, उनको तो छोड़ो, क्योंकि न तुम हमारी मानोगे ओर न हम तुम्हारी, जिसमें हमारा-तुम्हारा मतैक्य हो, वे ही बातें करो और पूछो।' इतना सुननेपर सबका सिर श्रद्धासे झुक गया।

(सिन्धी सत्संग मण्डल, वृन्दावनके सौजन्यसे)

निःस्वार्थ पुरुष ही परोपकार कर सकता है।

स्वं कर्तव्यं किमपि कलयंल्लोक एष प्रयत्ना-
न्नो पारार्थ्यं प्रति घटयते कांचन स्वात्मवृत्तिम्।
यस्तु त्यक्ताखिलभवमलः प्राप्तसंपूर्णबोधः
कृत्यं तस्य स्फुटमिदमियल्लोककर्तव्यमात्रम्॥

(प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी)

जो मनुष्य लोकव्यवहारमें प्रयत्नपूर्वक अपनी स्वार्थपूर्तिके कर्तव्योंमें ही संलग्न रहता है वह परोपकारके लिए अपनी शक्तिवृत्तियोंका ठीक-ठीक उपयोग नहीं कर सकता। परन्तु जिस सत्पुरुषने संसारके सम्पूर्ण मलोंका परित्याग कर दिया है और अपनी पूर्णताका बोध प्राप्त कर लिया है उसके हृदयमें चित्स्वभाववश जो इच्छाका उदय होता है वह केवल लोकोपकारकी दृष्टिसे जो कर्तव्य हैं उन्हींके लिए होता है—यह अत्यन्त स्फुट है।

(म० श्री०)

बौद्ध-न्यायमें अपोहवाद

— डॉ० छोटेलाल त्रिपाठी —

[दर्शनविभाग : प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग]

हम दैनिक जीवनमें मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, लता, पर्वत, नदी, झील आदि नैसर्गिक वस्तुओं एवं भवन, कुर्सी, मेज, लेखनी आदि मानव-निर्मित वस्तुओंका प्रत्यक्षीकरण करते हैं और उन्हें उनके वर्गोंसे संबन्धित संज्ञासे अभिहित करते हैं, भले ही उन वर्गोंमें आनेवाली वस्तुओंमें तनिक भी साम्य न हो। उदाहरणके लिए पीले रंगके चीनी, सफेद रंगके अंग्रेज, काले रंगके हब्शी और गेहुएँ रंगके भारतीय एक ही संज्ञा 'मनुष्य' से अभिहित किये जाते हैं और उनको देखते ही हम उन्हें 'मनुष्य' के वर्गमें तुरन्त रख देते हैं, भले ही वे आपसमें अत्यन्त भिन्न हों। इसी प्रकार गाय, भैंस, अश्व, श्वान, हाथी आदिको हम तुरन्त पशुकी संज्ञा प्रदान कर देते हैं यद्यपि उनमेंसे प्रत्येक दूसरेसे पूर्णरूपसे भिन्न है और वे आपसमें भी एक दूसरेसे भिन्न हैं। इसी प्रकार तोता, मैना, कौआ और बगुला आदि विविध जन्तुओंको हम पक्षोकी संज्ञा प्रदान करते हैं यद्यपि तोता, मैना, कौआ और बगुलामें आपसमें कोई समता नहीं है। हम ऐसा क्यों करते हैं? हमसे हजारों मील दूर रहनेवाले अन्य व्यक्ति जो हमारे अनुभवसे पूर्णरूपसे अपरिचित हैं, वे भी हमारे ही निष्कर्षपर पहुँचते हैं और हमारी ही भाँति उपर्युक्त व्यक्तियोंको मनुष्य, पशु, पक्षी आदिकी संज्ञासे अभिहित करते हैं। वे ऐसा क्यों करते हैं? उनके कार्यका आधार क्या है? यह दार्शनिकोंके लिए आदिकालसे ही एक गम्भीर समस्या रही है, जिसकी व्याख्याके लिए उन्होंने विविध सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं। भारतीय दार्शनिकोंमें नैयायिकों, वैशेषिकों और मीमांसकोंने इसे जाति या सामान्य-सिद्धान्त द्वारा हल करनेका प्रयत्न किया है। उनके अनुसार हम पीले, सफेद, काले और गेहुएँ रंगके व्यक्तियोंको मनुष्य इसलिए कहते हैं कि उनमें मनुष्यकी 'जाति' विद्यमान है जो शाश्वत नित्य और सर्वगत है, जिसका व्यक्तियोंके नाश होनेपर भी नाश नहीं होता। उदाहरणके लिए मनुष्यकी जाति तब भी थी, जब किसी मनुष्यकी

उत्पत्ति नहीं हुई थी और तब भी रहेगी, जब सभी मनुष्योंका विनाश हो जायगा। मनुष्यके जन्म, जरा और मरणसे इसपर तनिक भी आँच नहीं आती। यही बात पशु, पक्षी, वृक्ष, लता, पर्वत, नदी, झील आदि नैसर्गिक वस्तुओं एवं भवन, कुर्सी, मेज, घड़ी, वायुयान आदि मानव-निर्मित वस्तुओंके लिए भी सत्य है।

बौद्ध-नैयायिकोंने उपर्युक्त समस्याको जिस सिद्धान्त द्वारा हल करनेका प्रयत्न किया है, उसे 'अपोह'को संज्ञा दी गयी है दूसरे शब्दोंमें इसे हम बौद्ध-न्यायका जाति या सामान्य-सिद्धान्त कह सकते हैं। यद्यपि ये दोनों ही सिद्धान्त हमारे अनुभवमूलक जगत्‌का निर्माण करते हैं, किन्तु दोनोंमें मौलिक भेद है। नैयायिकोंके अनुसार जातिकी मनुष्य, पशु, पक्षी आदिकी भाँति वास्तविक सत्ता है। यह एक नित्य, शाश्वत और सर्वव्यापी वस्तुतत्त्व है, जो प्रत्येक वस्तुमें अपने पूर्णरूपमें विद्यमान है। किन्तु बौद्ध-नैयायिकोंके अनुसार 'अपोह' बुद्धिके संप्रत्यय हैं। ये बुद्धि-प्रसूत हैं। ये कल्पनाकी सृष्टि हैं। इनकी वास्तविक सत्ता नहीं है। उनके अनुसार शब्द और संप्रत्यय स्वभावतः द्वन्द्व-न्यायात्मक हैं। वे किसी वस्तुके स्वरूपके नहीं, अपितु उस वस्तुसे भिन्न वस्तुओंकी व्यावृत्ति के बोधक हैं।[1] विरोध ही उनका आधार है। स्वविरोधके निषेध द्वारा ही वे अप्रत्यक्ष रूपसे अपने स्वरूपकी ओर भी संकेत करते हैं। उदाहरणके लिए ज्यों ही हम किसी व्यक्ति 'मोहन' का नाम लेते हैं, त्यों ही यह बोध होता है कि वह मोहनेतर—श्याम, अरविन्द, पीयूष तथा गाय, भैंस, श्वान, हाथी, नदी, पर्वत, कुर्सी, मेज आदि कुछ भी नहीं है। वह इन सबसे अलग है। उसका बोध तभी हो सकता है, जब उससे भिन्न अन्य वस्तुओंका निषेध हो जाय। यद्यपि एक वर्गमें समाहित वस्तुएँ भी एक दूसरेसे पूर्णतया भिन्न हैं। उदाहरणके लिए दो गाएँ एक-सी नहीं हैं, फिर भी भैंस, अश्व, श्वान, पक्षी, वृक्ष और अन्य वस्तुओंकी तुलनामें उनमें आपसमें साम्य है। इसी साम्यके कारण हमारे मनमें तादात्म्य, जातिमत्ता या सामान्यत्वकी भ्रान्तिका जन्म होता है।[2] चूँकि अपोह-विधिमें बुद्धि वस्तुओंके व्यक्तिगत भेदकी उपेक्षाकर सामान्यकी संरचना करती है तथा यहाँ किसी वस्तुका बोध उस वस्तुकी विरोधी वस्तुओंको व्यावृत्तिपर निर्भर है, अतः इसे 'भेदाग्रह, अन्यव्यावृत्ति और अतद्‌व्यावृत्ति' भी कहा जाता है।

वस्तुतः मानव-बुद्धि सीमित है। वह जगत्‌की असंख्य वस्तुओंको अनेक व्यष्टिरूपमें ग्रहण करनेमें असमर्थ है। अतः विभिन्न वस्तुओंकी भिन्नताको भूलना

१. प्रमाण समुच्चय ५.१।

२. जातिमत्ता = व्यक्तीनामभिन्नता।

और उनके सादृश्यको ही ग्रहण करना इसकी सहज प्रवृत्ति है।[1] कमलशीलके शब्दोंमें 'अविद्याग्रस्त होनेके कारण हम वस्तुओंके वास्तविक स्वरूपको नहीं जानते। हम अपनी कल्पनासे उनपर एक ऐसे आकारको आरोपित कर देते हैं जो सभी वस्तुओंके लिए एकरूप और सामान्य है, जब कि प्रत्येक वस्तु स्वभावतः एक दूसरेसे भिन्न है। अनादि वासनासे वशीभूत होनेके कारण हम आरोपण क्रियाको भूल जाते हैं और इस आरोपित आकारको ही वास्तविक वस्तु समझ बैठते हैं'[2] और इसे नित्य, शाश्वत, सर्वगत आदि संज्ञाओंसे विभूषित करते हैं, जब कि यह बौद्धिक संरचनामात्र है; उसका वास्तविक अस्तित्व नहीं है।

अपोहके भेद :

शान्तिरक्षितने अपोहके दो भेद किये हैं :

(१) पर्युदास, (२) निषेध या प्रसज्य-प्रतिषेध।

पर्युदासके पुनः दो भेद किये गये हैं।[3] १. बुद्ध्यात्मन्, २. अर्थात्मन्। इस प्रकार अपोहके तीन भेद हैं :

१. बुद्ध्यात्मन्, २. अर्थात्मन् तथा ३. निषेध या प्रसज्य-प्रतिषेध।

१. बुद्ध्यात्मन् : यह तार्किक या मानसिक निषेध है। वास्तविक अर्थमें इसे ही 'अपोह'की संज्ञा दी जा सकती है। यहाँ मानसिक आकार अपनेको बाह्य-रूपमें प्रक्षिप्तकर बाह्य वस्तुके अस्तित्वकी भ्रान्तिको जन्म देता है।

२. अर्थात्मन् : इसकी वास्तविक सत्ता है। यह 'स्वलक्षण'का ही एक दूसरा नाम है। इसे वास्तविक अर्थमें अपोह नहीं कहा जा सकता।

३. प्रसज्य-प्रतिषेध या निषेध—यह पूर्ण निषेधका द्योतक है। यहाँ अपोह या अन्य वस्तुओंका निषेध स्पष्टरूपसे अभिव्यक्त होता है। उदाहरणके लिए 'गाय अगाय नहीं है', 'अश्व अनश्व नहीं है' 'मनुष्य अमनुष्य नहीं है'[4] इत्यादि।

---

१. भेदाग्रह : न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, पृ० ३३९।

२. तत्र यत्तदारोपितं विकल्पधियाऽर्थेष्वभिन्नं रूपं तदन्यव्यावृत्तपदार्थानुभव-बलायातत्वात् स्वयं चान्यव्यावृत्ततया प्रख्यानाद् भ्रान्तैश्चान्यव्यावृत्तार्थेन सहै-क्येनाध्यवसितत्वाद् अन्यापोढपदार्थाधिगतफलत्वाच् चान्यापोढ इत्युच्यते।—तत्त्व-संग्रहपञ्जिका, पृ० २७४।

३. तत्त्वसंग्रह, १००४।

४. तत्त्वसंग्रह १०१०।

प्रसज्य-प्रतिषेध या निषेधको 'अपोह'की संज्ञा देना समीचीन प्रतीत होता है; क्योंकि इसका निषेधात्मक स्वरूप स्पष्टरूपसे द्रष्टव्य है। किन्तु तार्किक और सत्ता-मूलक आकारोंको अपोहकी संज्ञा क्यों दी गयी है, जब कि उनसे किसी वस्तुके अस्तित्वका बोध होता है, न कि निषेधका ? शान्तिरक्षितने इस प्रश्नके उत्तरके रूपमें निम्नलिखित कारणोंकी ओर संकेत किया है :

१. किसी मानसिक आकारको अपोह इसलिए कहा जाता है कि यह अन्य आकारोंसे भिन्नरूपमें प्रकट होता है। यह अश्लिष्ट है और अन्य मानसिक आकारोंसे पूर्णरूपसे असम्बद्ध है।[1] किसी शब्दके कहते ही उसका आकार हमारे मस्तिष्कमें उत्पन्न हो जाता है।

२. मानसिक आकार कारणके रूपमें स्वलक्षणका बोध करा करके हमारे उद्देश्यपूर्ण कार्योंको संभव बनाता है।[2]

३. इस मानसिक आकार या अपोहको हम 'स्वलक्षणका कार्य' भी कह सकते हैं; क्योंकि इसकी उत्पत्ति स्वलक्षणके साक्षात्कारके कारण होती है।[3]

४. अनादि वासनाके वशीभूत होनेके कारण यह वस्तुओंके सादृश्यको ही ग्रहण कर पाता है और उनकी उन विशेषताओंको ग्रहण नहीं कर पाता, जो स्वलक्षणके तत्त्व हैं।[4]

अपोहके कार्य :

बौद्ध-नैयायिकोंके अनुसार अपोह द्वारा ही अनुभवमूलक जगत्की सृष्टि होती है। वस्तुतः यह जगत् हमारे मस्तिष्ककी कल्पनामात्र है। किन्तु अपोह द्वारा यह सत्य प्रतीत होता है। जगत्को वास्तविक रूप देनेमें अपोह-को द्विविध समन्वय[5] की आवश्यकता पड़ती है। प्रथम समन्वयमें 'यह गाय है', 'यह श्वान है' इस प्रकारके निर्णय देते हैं। यहाँ मानसिक आकार और स्वलक्षण (जो परस्पर पूर्णरूपसे भिन्न हैं) के बीच एक मिथ्या तादात्म्य-स्थापना की जाती है और हम उन दोनोंको एक ही वस्तु मानते हैं। द्वितीय समन्वय द्वारा हम अत्यन्त भिन्न स्वलक्षणोंको अज्ञानवश एकरूप मान लेते हैं

१. अश्लिष्टम्, अन्यासंबद्धम्, अन्यतो व्यावृत्तम्।—तत्त्वसंग्रहपञ्जिका, पृ० ३१८

२. कारणे कार्यधर्मारोपाद् वा।—तत्त्वसंग्रहपञ्जिका, पृ० ३१८।

३. कार्ये वा कारणधर्मोपचारात्।—तत्त्वसं ग्रहपञ्जिका, पृ० ३१८।

४. विजातीयापोहपदार्थेन सहैक्येन भ्रान्तैः प्रतिपत्तृभिरध्यवसितत्वाच्च इति चतुर्थकारणम्।—तत्त्वसंग्रहपञ्जिका, पृ० ३१८।

५. क्रिटीक आव् इण्डियन रियलिज्म: पृ० ३५३।

और उन्हें एक ही शब्द द्वारा सम्बुद्ध करते हैं, मानो वे एक ही वर्गके सदस्य हों और एक ऐसे सामान्यसे युक्त हों, जो सबमें व्याप्त हो। इस तादात्म्यकी उत्पत्तिका कारण कोई ऐसा सामान्य गुण नहीं, जो किसी वर्गकी सभी वस्तुओंमें विद्यमान है। अपितु यह कि एक वर्गकी सभी वस्तुए अन्य वर्गकी सभी वस्तुओंसे सामान्य भिन्नता रखता है। उदाहरणके लिए हम गाय, भैंस, अश्व या किसी अन्य वस्तुको देखें। यद्यपि गाएं पूर्णतया भिन्न हैं और उनमें ऐसा कोई सामान्य गुण नहीं, जो सभी गायोंमें पाया जाता हो सिवा इसके कि वे दूधके व्यापारमें समानता रखती हैं और उनकी उत्पत्ति समान कारणोंसे होती है। किन्तु उन सभी गायोंमें एक निषेधमूलक सामान्य है और वह यह कि वे अगाय—अश्व, सिंह आदिसे समान रूपसे भिन्न हैं।

किन्तु उपर्युक्त समन्वयोंसे हमें दो क्रियाओंकी भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए। वस्तुतः ये एक ही क्रियाके दो पक्ष हैं, जो अन्योन्याश्रित हैं और एक दूसरेके पूरक हैं। उदाहरणके लिए, प्रथम समन्वयके प्रत्यक्षमूलक निर्णयों—'यह गाय हैं' 'यह अश्व हैं' आदिमें गायका मानसिक आकार द्वितीय समन्वयके कारण ही सम्भव होता है। वस्तुतः वास्तविक प्रक्रिया इस प्रकार घटती है: हमें ज्यों ही किसी वस्तुका इन्द्रिय-संवेदन होता है, हमारी स्मृति उद्बुद्ध होती है और हमें उस वस्तुके नाम (वर्ग-नाम)का स्मरण हो आता है और नामका स्मरण होते ही उस वस्तुका सामान्याकार हमारे सामने उपस्थित हो जाता है। यह प्रक्रिया विपरीत ढंगसे भी घटती है, विशेष कर उन परिस्थितियोंमें जब वर्ग-विषयक नामसे हमारा परिचय प्रगाढ नहीं होता। इस स्थितिमें सर्व-प्रथम हमें किसी वस्तुका संवेदन होता है। संवेदनसे सामान्याकारका आविर्भाव होता है। तदनन्तर उसे किसी वर्ग-विषयक नामसे सम्बद्ध किया जाता है। सामान्यतः किसी ऐसे व्यक्तिके सम्बन्धमें जो वर्ग-विषयक संज्ञाओंका ज्ञान रखता है। सामान्याकार और वर्ग-विषयक संज्ञाएं (नाम) अविच्छिन्न रूपसे सम्बद्ध होती हैं और एकका स्मरण होते ही दूसरेका स्मरण हो आता है। उपर्युक्त प्रक्रियाका आचार्य दिङ्नागने निम्नलिखित शब्दोंमें बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है। उनका कथन है कि शब्दों—वर्ग-विषयक संज्ञाओंका मूल विचार-आकारोंमें है और आकारोंका मूल शब्दों या नामोंमें है। वे परस्पर कारण-कार्यरूपमें सम्बद्ध हैं। शब्द या नाम वस्तु-तत्त्वका स्पर्श नहीं कर सकते।[1]

---

१. विकल्पयोनयः शब्दा विकल्पाः शब्दयोनयः।
कार्य-कारणता तेषां नार्थं शब्दाः स्पृशन्त्यपि॥
—न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका पृ० ६८१ पर उद्धृत

संक्षेपमें वाचस्पति मिश्रके शब्दोंमें 'अपोह या मानसिक संप्रत्ययका वास्तविक कार्यभेदमें अभेदकी स्थापना करना, देश, काल और गुणके भेदमें एकत्व आरोपित करना अथवा 'यह वह है' आदि निर्णय देना है।[1]

अपोहसे वस्तुमूलक जगत्की भ्रान्तिकी रचना सहसा नहीं होती। इसे कई भूमियोंसे होकर गुजरना पड़ता है। ये भूमियाँ निम्नलिखित हैं :

सर्वप्रथम एक विशिष्ट वस्तु, उदाहरणके लिए गायका साक्षात्कार होता है। इससे एक ऐसे आकारकी उत्पत्ति होती है जो अन्य गायोंके साक्षात्कारसे उत्पन्न होनेवाले आकारोंके समान होता है। चूँकि ये मानसिक आकार एक साथ उत्पन्न नहीं होते, अतः मानव-मस्तिष्क उनके भेदको ग्रहण नहीं कर पाता और उन्हें एक समझ बैठता है।[2] इन आकारोंके तादात्म्यसे इनके कारणों—निर्विकल्प संवेदनोंके तादात्म्यकी भ्रान्ति होती है। इन संवेदनोंके तादात्म्यसे इनके मूलकारण स्वलक्षणोंके तादात्म्यकी भ्रान्ति होती है; क्योंकि ये स्वलक्षण इन्हींके माध्यमसे प्रतिबिम्बित होते हैं। उपर्युक्त मानसिक प्रक्रियाको हम निम्नलिखित शब्दोंमें व्यक्त कर सकते हैं :

'एकरूप प्रत्ययोंके कारण संवेदनोंके सम्बन्धमें तादात्म्यकी भ्रान्ति होती है और संवेदनोंके तादात्म्यकी भ्रान्तिके कारण उनके मूल—स्वलक्षणोंके तादात्म्यकी भ्रान्ति होती है।[3]

अपोहवादकी आलोचना :

कुमारिल भट्ट, उद्योतकर, भामह, वाचस्पति मिश्र, जयन्त भट्ट और श्रीधर आदि आचार्योंने बौद्ध-अपोहवादकी कटु आलोचना की है। कुमारिल अपोहवादकी आलोचना करते हुए कहते हैं कि बौद्ध नैयायिकोंके अनुसार मानसिक आकार या अपोहसे किसी निषेधमूलक वस्तुका ज्ञान होता है। उदाहरणके लिए, अपोह शब्द—'गाय' से 'अगाय' के निषेधका बोध होता है। अगायका निषेध तभी हो सकता है जब गायके अस्तित्वकी स्थापना हो जाये क्योंकि अगाय गायका निषेध है। अतः बौद्ध-नैयायिकोंको सर्वप्रथम 'गाय' के स्वरूपकी व्याख्या करनी चाहिए जिसका 'अ' द्वारा निषेध किया जाता है। यदि हम

---

१. एकम्, अविभागं स्वलक्षम् अनादिविकल्पवासनासमारोपितजात्यादिभेदं तथा तथा विकल्प्यते।—न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका : पृ० ८९।

२. न्यायकन्दली : पृ० ३१८।

३. एकप्रत्यवमर्शस्य हेतुत्वाद् धीरभेदिनी।
एकधीहेतुभावेन व्यक्तीनामप्यभिन्नता॥
—न्यायकन्दली, पृ० ३१९।

यह कहें कि गायका स्वरूप अगायके स्वरूपके निषेधके अतिरिक्त और कुछ नहीं तो हमारा कथन अन्योन्याश्रय-दोषसे ग्रस्त होगा।[1] और यदि 'गाय' का अस्तित्व स्वतः स्थापित हो जाता है, तो अपोहकी परिकल्पना व्यर्थ है। यदि हम यह कहें कि अपोहका अर्थ मात्र निषेध है, तो उसका अर्थ यह होता है कि यह शून्यवादका पर्याय है और इसलिए उन सभी दोषोंसे ग्रस्त है जो शून्यवादमें व्याप्त हैं। उदाहरणके लिए, हमें जगत् और उसकी वस्तुओंका अस्तित्व अस्वीकार करना पड़ेगा, जिन्हें हम दैनिक जीवनमें अनुभव करते हैं। पुनश्च, किसी शब्दसे सदैव किसी विधिमूलक वस्तुका ही बोध होता है, न कि किसी निषेधमूलक वस्तु का। उदाहरणके लिए हम यही कहते हैं कि 'यह गाय है', न कि 'यह अगाय है'। यद्यपि एक संज्ञान दूसरे संज्ञानसे पूर्णतया भिन्न होता है; तथापि जब किसी संज्ञानका बोध होता है तो वह किसी अभावात्मक वस्तुकी व्यावृत्तिकी सूचना नहीं देता। उदाहरणके लिए जब हम किसी गायका संज्ञान करते हैं तो उस समय अश्व, भैंस हाथी आदि विधिमूलक वस्तुओंका ही संज्ञान नहीं होता न कि अनश्च आदिका।[2] पुनश्च, यदि हम यह कहें कि शब्दोंसे अपोहका ही बोध होता है, तो सामान्य और विशेषका बोध करानेवाले अर्थ पर्यायवाची हो जायँगे।[3] विभिन्न अपोहोंके बीच आपसमें क्या सम्बन्ध है, यह भी एक जटिल समस्या है। हमारे सामने दो ही विकल्प हैं: या तो वे भिन्न हैं या अभिन्न हैं। यदि वे भिन्न हैं तो उन्हें वस्तु मानना पड़ेगा और हम इस निष्कर्षपर पहुँचेंगे कि वे विधिमूलक वस्तुका बोध कराते हैं; और यदि वे अभिन्न हैं तो इसका अर्थ यह होता है कि वे अभावमात्र हैं। ऐसी अवस्थामें उनकी विविधता असंभव हो जायगी।[4]

---

१. सिद्धश्चागौरपोह्येत गोनिषेधात्मकश्च सः।
तत्र गौरेव वक्तव्यो नञा यः प्रतिषिद्ध्यते॥
स च चेद्गोनिवृत्त्यात्मा भवेदन्योन्यसंश्रयः।
सिद्धश्चेद् गौरपोहार्थं वृथापोहप्रकल्पना।
गव्यसिद्धे त्वगौर्नास्ति तदभावे च गौः कुतः॥
—श्लोकवार्तिक, अपोहवाद ८३–८५।

२. वस्तुरूपा च सा बुद्धिः शब्दार्थेषूपजायते।
तेन वस्त्वेव कल्पेत वाच्यं बुद्ध्यनपोहकम्॥
—श्लोकवार्तिक, अपोहवाद ३९।

३. श्लोकवार्तिक, अपोहवाद ४२।

४. श्लोकवार्तिक, अपोहवाद ४६. ४७।

आचार्य भामहका भी यही मत है। उनके अनुसार अपोहवाद मानवीय अनुभवके विपरीत है। शब्दोंसे व्यावृत्तिका बोध नहीं होता। उदाहरणके लिए जब हम गाय, अश्व, हाथी आदि शब्दोंका प्रयोग करते हैं तो उनसे किसी भावात्मक सत्ताका ही बोध होता है। यदि गाय-शब्दसे अगायके निषेधका बोध होता तो गाय शब्द सुननेपर हमारे मस्तिष्कमें अगायके प्रत्ययकी अनुभूति नहीं होती। यदि शब्दोंसे मात्र निषेध अर्थात् 'अगाय' आदिका ही बोध हो तो हमें गाय आदि भावमूलक शब्दोंका बोध करानेके लिए अन्य शब्दोंका आविष्कार करना पड़ेगा। क्योंकि यह सम्भव नहीं कि किसी शब्दसे युगपद् दो अत्यन्त विरुद्ध वस्तुओंका बोध हो।[1]

बौद्ध नैयायिकके अनुसार कुमारिल और भामहकी उपर्युक्त आपत्तियाँ निराधार हैं। उनके अनुसार 'अगाय' के ज्ञानके बिना गायका ज्ञान असम्भव है। प्रथमका ज्ञान द्वितीयकी व्यावृत्तिपर ही निर्भर है। शब्दोंसे दोनोंका युगपद् बोध होना चाहिए। यदि हम यह नहीं मानते, तो हमारे लिए दोनोंमें भेद करना उसी प्रकार कठिन होगा जिस प्रकार अन्य व्यक्तियोंके निषेधके अभावमें किसी व्यक्तिविशेषका ज्ञान। उदाहरणके लिए यदि हम किसी व्यक्ति-विशेष मोहनको जानना चाहते हैं तो हमें यह ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य है कि सोहन राजीव, संजय, दिनेश, सुरेश आदि नहीं हैं। इन व्यक्तियोंके ज्ञानके अभावमें मोहनका ज्ञान असंभव होगा। अतः मोहनका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए मोहनेतर व्यक्तियोंकी व्यावृत्ति अनिवार्य है। इसी प्रकार यदि हम 'गाय' और 'अगाय' के भेदको नहीं जानते, तो हमारे संज्ञानका कुछ भी महत्त्व नहीं होगा। हम अपने अभीप्सित लक्ष्यपर नहीं पहुँच सकेंगे। उदाहरणके लिए यदि कोई व्यक्ति मुझसे यह कहे कि आप मेरेलिए एक गाय ला दीजिये और मैं गायको हाथी, अश्व, मेज, कुर्सी आदि 'अगाय' से भिन्न रूपमें नहीं जानता तो मैं 'गाय' के स्थानपर हाथी, अश्व, मेज, कुर्सी आदि कुछ भी ला सकता हूँ। वाचस्पति मिश्र बौद्धमतकी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि शब्दसे वस्तुओंकी व्यावृत्ति न माननेपर किसी व्यक्तिके यह कहनेपर कि 'गायको खूँटेमें बाँध दो', हम गायके स्थानपर अश्वको खूँटेमें बाँध देंगे। अतः बौद्ध और नैयायिक दोनों ही मत एक-सी कठिनाईसे ग्रस्त हैं। वस्तुतः दोनों ही अन्योन्याश्रय-दोषसे युक्त हैं। सही बात तो यह है कि भाव और अभाव दोनों ही सापेक्ष पद हैं। वे जुड़वें भाइयोंके समान हैं। एकका बोध होते ही अन्यकी

१. तत्त्वसंग्रह : १०१२.–१०१४।

व्यावृत्तिका भी बोध हो जाता है।[1] कमलशीलके शब्दोंमें 'भाव' और 'अभाव' किसी वस्तुका अस्तित्व और उसकी विरुद्ध वस्तुका निषेध सहचारी शब्द हैं। संसारमें ऐसी कोई वस्तु नहीं, जो अपनी विजातीय वस्तुसे व्यावृत्त न हो।[2]

अपोहकी विशेषताओंपर भी आपत्ति करना व्यर्थ है। यह न तो विधि-मूलक है और न निषेधमूलक; न विविध और न एकविध; न अस्तित्वमूलक और न अनस्तित्वमूलक; न एक और न बहु। जिस रूपमें इसका बोध होता है, उस रूपमें यह है ही नहीं। अतः इसके विधिमूलक होनेका प्रश्न ही नहीं उठता। वस्तुरूपसे इसका बोध होता है, अतः यह पूर्णतया निषेधमूलक भी नहीं है। विविधता, एकरूपता आदि वस्तुओंके गुण हैं। शब्दोंका वस्त्वर्थ पूर्णरूपसे गुण-रहित होता है, अतः इस (अपोह)में उपर्युक्त गुणोंके लिए तनिक भी स्थान नहीं है।[3]

अपोहोंकी विविधताविषयक आपत्ति भी सर्वथा निराधार है। विविधताका कारण हमारे मानसिक संस्कार हैं, जो हमारे मस्तिष्कमें अनादि कालसे विद्यमान हैं। अपोहोंकी विविधताकी व्याख्या करते हुए कमलशील कहते हैं कि अपोहोंमें भेद न तो उन वस्तुओंके कारण है, जो उनका आश्रय हैं और न व्यावृत्त वस्तुओंके कारण ही, अपितु शाश्वत और अनादिकालीन संस्कारोंको विविधताके कारण है। वस्तुतः हम विविध वस्तुओंपर विविध अपोहोंका आरोपण कर देते हैं। ये स्वतः निर्गुण हैं। वस्तुओंपर आरोपित आकारके रूपमें ही इनकी सत्ता है, उससे भिन्न रूपमें नहीं। इन्हीं वस्तुओंकी विविधताके कारण ये विविध प्रतीत होते हैं। अतः अपोहोंकी विविधता और वस्तुनिष्ठताका कारण हमारे संस्कार हैं।[4] किन्तु नैयायिकोंके अनुसार बौद्ध-नैयायिकोंकी उपर्युक्त व्याख्या ठीक नहीं। उनके अनुसार सही बात तो यह है कि संस्कारोंकी उत्पत्ति वस्तुतः

---

१. प्रमाणसमुच्चयवृत्ति टीकाः पृ० २८७।

२. तत्त्वसंग्रहपञ्जिकाः पृ० ३२१।

३. न भावो नापि चाभावो पृथगेकत्वलक्षणः।
नाश्रिता नाश्रितापोहो नैकानेकश्च वस्तुतः॥ तत्त्वसंग्रहः ११८९।
तथाऽसौ नास्ति तत्त्वेन यथाऽसौ व्यवसीयते।
तन्न भावो न चाभावो वस्तुत्वेनावसायतः॥ तत्त्वसंग्रहः ११९१।
भेदाभेदादयः सर्वे वस्तुसत्परिनिष्ठिता.।
निःस्वभावश्च शब्दार्थस्तस्मादेते निरास्पदाः॥ तत्त्वसंग्रहः ११९२।

४. तत्त्वसंग्रहपञ्जिकाः पृ० ३०५।

वस्तुके ही कारण होती है, अतः अपोहोंकी विविधता और वस्तुनिष्ठताको संस्कार-जन्य कहना ठीक नहीं है।[1]

कमलशील अपोहवादकी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि अपोहका यह अर्थ नहीं कि किसी विधिमूलक सत्ताका बोध होता ही नहीं। हमारा अभिप्राय केवल यह है कि विधिमूलक बोधके साथ ही साथ दूसरी वस्तुओंकी व्यावृत्तिके रूपमें निषेधमूलक बोध भी होता है। हमें किसी वस्तुका साक्षात्कार प्रत्यक्षरूपसे नहीं, अपितु अप्रत्यक्ष रूपसे होता है। अन्ततोगत्वा हमारा मानसिक संज्ञान हमें वस्तुका प्रत्यय प्रदान करता है। अतः वस्तुवादी और बौद्ध-नैयायिक दोनों ही इस हदतक सहमत हैं। दोनोंमें मौलिक भेद केवल इस बातमें है कि वस्तुवादियोंके अनुसार शब्दसे किसी वास्तविक वस्तुकी सत्ताका बोध होता है, जब कि बौद्ध-नैयायिकोंके अनुसार शब्दसे किसी वास्तविक वस्तुकी सत्ताका बोध नहीं होता।[2]

उद्योतकर अपोहवादकी समीक्षा करते हुए कहते हैं कि यह विविध असंबद्धताओंसे ग्रस्त है। उनके अनुसार केवल दो ही विकल्प सम्भव हैं। अपोह—अगायको हम या तो विधिमूलक मानें या निषेधमूलक। प्रथम अवस्था-में इसमें और गाय या अगायमें कोई भेद नहीं होगा। दोनों एक ही वस्तु होगी। यदि यह और गाय एकरूप हैं तो नैयायिकोंके जाति-सिद्धान्त और बौद्ध अपोहवादमें कोई अन्तर नहीं होगा। और यदि यह तथा अगाय एकरूप हैं, तो यह मानवीय अनुभवके विरुद्ध होगा; क्योंकि जगत्‌में ऐसा कोई व्यक्ति नहीं जो गायके गुणोंको अगायमें आरोपित करता हो।[3] यदि हम दूसरा विकल्प मानें और यह कहें कि यह निषेधमूलक है, तो भी समस्याका समाधान नहीं होता। क्योंकि गायसे अगायकी व्यावृत्ति माननेपर दो ही बातें हो सकती हैं : यह गायसे भिन्न है या अभिन्न। यदि यह गायसे भिन्न है, तो प्रश्न उठता है कि यह किसी वस्तुमें समाहित है या नहीं? यदि यह किसी वस्तुमें समाहित है तो इसे गुण मानना पड़ेगा। परिणाम यह होगा कि गाय शब्दका द्रव्यत्व नष्ट हो जायेगा और 'गाय दूध देती है' आदि कथन निरर्थक होंगे; क्योंकि गुण द्रव्यके अभावमें किसी क्रियाका सम्पादन नहीं कर सकते। यदि यह कहीं भी समाहित नहीं है, तो 'गाय' का अनगाय (अ + अ + गाय) के रूपमें

१. श्लोकवार्त्तिक, अपोहवादः १००।
२. तत्त्वसंग्रहपञ्जिका। पृ० ३३९।
३. तत्त्वसंग्रहः ९८२, ९८८।

वर्णन करना व्यर्थ है। यदि हम यह कहें कि यह गायसे अभिन्न है तो इसमें और गायमें कुछ भी अन्तर नहीं होगा। अतः यह व्याख्या माननेसे वस्तुवादी और बौद्ध-नैयायिकके शब्दार्थविषयक सिद्धान्तमें कुछ भी अन्तर नहीं रह जायेगा।

उद्योतकर एक अन्य प्रश्न उठाते हैं कि क्या सभी वस्तुओंमें एक ही अपोह व्याप्त है या भिन्न अपोह? यदि सभी वस्तुओंमें एक ही अपोह व्याप्त हैं, तो इसमें और वस्तुवादियोंके 'जाति' में कोई अन्तर नहीं; वस्तुतः दोनों एक हैं। यदि यह प्रत्येक वस्तुमें भिन्न-भिन्न है, तो विशेष वस्तुओंकी भाँति यह असंख्य होगा। परिणामस्वरूप हम गाय और सिंह आदि वर्गोंकी गणना करनेमें असमर्थ होंगे। पुनश्च, क्या अपोहसे स्वतः इसका (अपोहका) बोध होता है? और होता है तो विधिरूपमें या निषेधरूपमें? यदि विधिरूपमें बोध होता है, तो यह बौद्ध-अपोहवादसे असंगत है; क्योंकि बौद्ध-सिद्धान्तके अनुसार अपोहसे किसी विधि-मूलक वस्तुका बोध नहीं होता यदि इसका बोध निषेधरूपमें अर्थात् अन्य वस्तुओंसे व्यावृत्त रूपमें होता है, तो हमें प्रथम अपोहकी व्याख्याके लिए एक दूसरे अपोहकी कल्पना करनी पड़ेगी और दूसरे अपोहकी व्याख्याके लिए तीसरे अपोहकी। इस प्रकार अनवस्था-दोष उत्पन्न हो जायगा। फलतः हमारा सारा जीवन केवल यही निश्चित करनेमें समाप्त हो जायगा कि शब्दसे किस वस्तुका बोध होता है और हम उस वस्तुको प्राप्त करनेमें असमर्थ हो रहेंगे। यदि यह मानें कि इसका बोध ही नहीं होता; दूसरे शब्दोंमें इससे इसका अथवा अन्य किसी भी वस्तुका बोध नहीं होता, तो इससे बौद्ध अपोहवाद धराशायी हो जायगा; क्योंकि इसके अनुसार शब्दसे वस्तुओंकी व्यावृत्तिका बोध होता है।[२]

पुनश्च, उद्योतकरके अनुसार अपोहवाद आचार्य दिग्नागके सिद्धान्तके भी विरुद्ध है; क्योंकि उनके अनुसार जब हम किसी शब्दका उच्चारण करते हैं तो उससे एक ऐसी वस्तुका बोध होता है, जो उन वस्तुओंसे भिन्न होती है जिनका बोध अन्य शब्दों द्वारा होता है।[३] (सावशेष)

●

१. तत्त्वसंग्रहः ९८९, ९९४।
२. तत्त्वसंग्रहः ९९६, १०००।
३. न्यायवार्तिकः २. २. ६३।

सन्त निलोबा : श्री पंढरीनाथके प्रेमी भक्त

[अंक ८.४ से आगे]

— श्री यशवन्त बलवन्त क्षीरसागर —

[बम्बई]

अपनी भावमधुर भक्ति श्री पंढरीनाथके चरणोंमें अर्पित करके प्रभुसे प्रेमालाप करनेवाले सन्त निळोबाजीका कुछ दर्शन गत दो अंकोंमें हमने पाया। सन्त-सद्गुरु-भक्ति, हरिशरणता, निरभिमानता तथा सांसारिक चीजोंसे विरक्ति आदि गुणोंसे मंडित इस महाभागवतका जीवन श्री पंढरीनाथके दरबारमें बड़ा शोभायमान हो रहा है। आपकी अभंग-रचनामें प्रतिबिम्बित कुछ विचार तरङ्ग, तथा आप द्वारा श्लोकबद्ध किये हुए गुरुदेव तुकाराम महाराजके अद्भुत स्तवनका अंशतः दर्शन भी परमावश्यक है।

ईश्वरका वर्णन करते हुए निळोबा गाते हैं :

काांहीच न होऊनि विस्तारला
बहुरूपी हा एकला।
नवल विचित्र हेचि वाटे
कैसा नटोनी ठेला नटे॥
एका ऐसा न होनि एक
नानाकारे हा अनेक।
निळा म्हणे नट लाघवी
शेखी वेगळा गोसावी॥

'क्या विलक्षण आश्चर्य है कि यह अकेला बहुरूपिया स्वयं कुछ न होकर भी इस विश्वके रूपमें विस्तीर्ण हुआ है। इसके विविध आकार एकसे एक भिन्न और विविध दिखायी देते हैं। निळोबा कहते हैं कि सब कुछ बनकर भी अन्तमें विरक्त गोसाईके समान अलग होनेवाला यह नट बड़ा निपुण ही मालूम पड़ता है।'

'एक सिंहासनपर विराजकर पूजा ले रहा है और एक पूजा करनेवाला, हाथ जोड़कर सामने खड़ा है। वस्तुतः दोनों भिन्न भासते हुए भी एक ही हैं; क्योंकि पुरुषोत्तम-भावमें सेवक-स्वामी यह भेद मिथ्या है।'

भगवान्‌की प्रेमभरी आलोचना करते हुए ये भक्तराज कहते हैं :

'इनका न कुछ मूल है, न शाखा। न रूप-नाम है और न कोई वर्ण। हाथ-पाँव और आँख कानोंका भी कुछ पता नहीं। यह बाल, युवा या वृद्ध है, या जीने-मरनेवाला है—यह भी कोई नहीं जानता।

निळा म्हणे धरिला चित्ती
कैसा नेणो पूर्वी सन्ती।

तो ऐसे भगवान्‌को सन्तोंने पूर्वकालमें चित्तमें कैसे धारण किया, यह बहुत बड़ा आश्चर्य निळोबाजी प्रगट कर रहे हैं।

ईश्वरके बारेमें लोगोंकी शंकाएँ सुनकर शायद व्यथित होकर निळोबा कहते हैं :

नेणे मी परिहार
देऊं कोणासी उत्तर।
म्हणोनिया खरे-खोटे
ठेवा बांधोनिया मोटे॥
नेणोनिया तुमची गति
तंटा माझ्याचि नावे करती।

'अब मैं किसीको क्या जवाब दूं भगवन्। अमुक सच और अमुक झूठ इन बातोंको आप ही सम्हाल लीजिये। आपकी गति तो कोई जानते नहीं, लेकिन झगड़ा अकारण मुझसे कर बैठते हैं।'

'विश्वाभासमें छिपे हुए भगवान् आँखोंसे (सीधे) नहीं दिखायी देते। मानो शक्करके भीतर मिठास छिपी हो या अलंकारोंके बीच सुवर्ण।'

देव प्रगटचि लपाला।
आड आपणा बैसला॥

प्रभुका छिपना भी एक तरहसे प्राकट्य ही है। वे स्वयं के पीछे स्वयं छिपते हैं। जैसे प्रकाश-किरणोंमें सूर्य छिपा हो, आगकी लपटोंमें वैश्वानर या तरंगोंके बीच सागर।

'यह समस्त चराचर विश्व मुझे भगवदाकार भास रहा है। पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, अग्नि, चन्द्र-सूर्य, नभोमण्डल सुर-असुर, मनुष्य सब कुछ भगवद्रूप ही हैं। आगे-पीछे, चारों ओर भगवान् ही घेरे हुए रहे हैं। इतने परिपूर्ण और निकटवर्ती हरिको हम ज्यों-का-त्यों क्यों नहीं पहचानते ?'

'आत्मदर्शन' के सम्बन्धमें सन्त निळोबा कहते हैं :

'समस्त संसारको निहारकर भी आँख अपने आपको नहीं देख पाती। तो क्या हम उसे अन्धी कहेंगे ? सारी दुनियाको जाननेवाला ज्ञान (वस्तु-रूपमें) स्वयं जाना नहीं जाता। वैसा ही अपना आपा बना हुआ आत्मा है :

निळा म्हणे आहे तैसा।
आत्मा आप-आपणा ऐसा॥

"सभीके साथ होकर भी आत्मा न भोक्ता है, न विरक्त। यह अनुभव जिन्होंने किया, वे ज्ञानी त्रिभुवनमें नित्यमुक्त हैं। मैं मैं बोलनेवाले मूर्ख सिर्फ देहकी कल्पनासे घिरे हुए हैं। जहाँ मैं मैं की स्फुरणा होती है, आत्मा उसके परे है।

स्वयं कुछ भी न करने या

करानेवाला आत्मा जीवके साथ अलिप्तताका व्यवहार करता है। यह न साक्षी है और न असाक्षी। चुम्बकके सान्निध्यमें लोहा तो हिलता है, लेकिन चुम्बक अपनी करतूत नहीं जानता।

हम शक्करको देखते हैं, लेकिन उसकी मिठासको नहीं देख पाते। वाद्य देख सकते हैं, लेकिन स्वर नहीं। वैसा ही आत्मा समस्त प्राणियोंमें व्याप्त रहकर भी दृष्टिगोचर नहीं होता।'

श्री गुरुकृपा तथा अपनी उत्कट भक्तिसे सन्त निळोबा अनुभवकी ऊँची चोटीपर आरूढ़ हो गये थे। उस परमोच्च अवस्थाका वर्णन करते हुए वे गाते हैं :

'आत्माका साक्षात्कार होकर मेरी वृत्तियाँ स्थिर हो गयी हैं और प्राण लूले पड़ गये हैं। नेत्र तेजोमय और अर्धोन्मीलित बन गये, कण्ठ गद्गद हुआ और शरीरपर रोमाञ्च खड़े हो गये। चित्त अपने आपमें रममाण होकर अभी उस अवस्थासे बाहर आना नहीं चाहता। दिन सूर्यप्रकाशसे भरा हुआ मालूम पड़ता है और जीवनमें अमृतका संचार हो गया है। प्रेम-भावसे सराबोर निळोबा निश्चिन्त होकर सुखासनपर प्रेमसे डोल रहा है।'

'जहाँ कुछ नहीं, वहाँ वर्णन क्या करें? जहाँ ज्ञानका प्रवेश ही नहीं वहाँ जानना ही क्या? सारे झगड़े (वाद) यहाँ मिट गये हैं और समूचे भेद अभेदमें लीन हो गये हैं।'

यहाँ न जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति है और न तुर्यावस्था या उन्मनी-अवस्था। स्वप्नकी भ्रांति अब स्पर्श भी नहीं कर पाती। अनुभव और अनुभव लेनेवाला यह भेद भी नष्ट होकर स्वतःसिद्ध एकता शेष रह गयी है।

'सबीमें सब (आत्मतत्त्व) भरपूर होकर भी अविद्यासे मैं का स्फुरण हो रहा है। मूलतः जब अविद्या ही व्यर्थ है, तो अविद्यासे उत्पन्न 'मैं' का ठौर-ठिकाना क्या? न मैं है; न तुम। सिर्फ एकमें एकत्व स्फुरित हो रहा है।'

'इस आत्मदेवने मुझे पागल बनाया और मेरा मैं-पना ठग लिया है। अभी मैं जाऊँ कहाँ? जब मैं भागता हूँ तब वह मेरे आगे-पीछे खड़ा हो होता है। 'बचाओ-बचाओ' शब्दोंसे जब मैं चिल्लाता हूँ, तो मेरे शब्दोंको वह स्वयं निगल जाता है। जब मैं कुछ देखता हूँ तो वह दृष्टि तथा दृष्टिका विषय बनकर आता है। जब मैं कुछ सूँघना चाहूँ, तो मेरी नाक और गन्धोंकी गन्ध भी वही बना हुआ मालूम पड़ता है। मेरा 'मैंपना' और 'मेरापन' कहीं दीखता ही नहीं।

ठकुनिया निळा अवघाचि नेला।
सकळहि त्याचे आपणचि झाला॥

निळोबा तो पूरा ठगा गया और उसका सर्वस्व वह स्वयं बन गया है।

पायी चित्त दे राहिले।
ब्रह्मरूप पैं जाहले॥
मन झाले हे उन्मन।
स्वरूपी झाले ते लीन॥
बुद्धि बोद्धव्या मुकली।
एकाकारता पावली॥
निळा म्हणे नादी देह।
तेथें कैचा तो सन्देह॥

प्रभुके चरणोंमें अर्पण हुआ चित्त ब्रह्मरूप हो गया है। मनको उन्मनी-दशा प्राप्त होकर वह स्वरूपमें लीन हो रहा है। बुद्धि अपने विषयों (बोद्धव्यों) से हटकर एकाकार बन गयी है। निळोबा कहते हैं जहाँ देहका पता नहीं, वहाँ सन्देह ही होगा कैसे?

सद्गुरु श्री

तुकाराम महाराजका स्तवन

संत निळोबाजीके मनमें अपने गुरुदेव श्री तुकाराम महाराजके प्रति जो ऊँचे, निर्मल ओर पवित्र भाव थे, उनका दर्शन स्थान-स्थानपर होता है। वे गाते हैं :

खांब-सूत्री खेळवी दोरी
नाचतो पुतळ्या दिसती वरी॥
तैसा बोलवी बोलता
न दिसे परि तो मज आंतौता॥
किनरी वाजे नाना परी
वाजवित्याची ते कुसरी॥
निळा म्हणे तैसा माझा
वाच्य वाचकु सद्गुरु राजा॥

कठपुतलियाँ नचानेवाले सूत्रधारकी तरह मेरे सद्गुरुराज औरोंको दीखते तो नहीं, लेकिन मेरे भीतर बैठकर वे मुझे बुलवा रहे हैं। बाँसुरी जब बजती है, तब वह कौशल बजानेवालेका है। मेरी वाणीका और विषय मेरे सद्गुरु ही हैं।

'हे गुरुदेव, आपका प्रसाद पाकर मैं सनाथ और कृतकृत्य हो गया हूँ। जिस हेतुका चिंतन मैं मनमें करता था, वह आपने पूर्ण कर दिया और कृपा करके अपना परम स्वरूप मेरे सामने प्रकट किया है।

तुकाराम महाराजकी स्तुतिपर सन्त निळोबाजीने तीन सौ बत्तीस श्लोक रचे हैं। आपकी यह रचना महाराष्ट्र भाषाका बड़ा सुन्दर अलंकार बन गयी है। उनके शब्द-शब्दसे गुरुदेवके प्रति मधुर-भाव क्षरित हो रहे हैं।

सन्त निळोबाजीने अपने गुरुदेवका साक्षात्कार, उनके इस लोकसे विदा होनेके पश्चात्, अनुष्ठानपूर्वक प्राप्त किया था, यह घटना पाठकोंको ज्ञात होगी। वे अपने गुरुदेवको शरीरधारी व्यक्तिके रूपमें कभी मानते ही नहीं थे।

नमो सद्गुरु तुकया ज्ञानदीपा
नमो सद्गुरु सच्चिदानन्दरूपा।
नमो सद्गुरु भक्त-कल्याण-मूर्ती
नमो सद्गुरु भास्करा पूर्ण कीर्ती॥

—इस श्लोकसे स्तवनका मंगलाचरण किया गया है।

'मेरे गुरुदेव मानव-वेषधारी भासनेपर भी लीला-विग्रही, निर्विकार और साक्षात् परब्रह्म हैं। सभीको व्याप्त करके, किसीसे स्पृष्ट न होनेवाले वे आकाश हैं। दृश्य और अदृश्यसे परे रहनेवाले, समस्त जीवोंको जिलानेवाले मेरे गुरुदेव ही एकमात्र सत्य हैं।'

'मेरे गुरुदेव अपना लीला-कौतुक इस संसारके रूपमें प्रकट कर रहे हैं। लेकिन वे कहीं घटते-बढ़ते नहीं। स्वयंको इतने रूपोंमें प्रकट करके भी उनका होना, न होना कुछ है ही नहीं। गुरुदेवकी कृपासे देहकी ऊर्मि शांत हो गयी है, मनका लोप हो गया है और इन पावन चरणोंके चिंतनमें चित्त डूब गया है।'

जैसे 'सूर्य' अन्धकारको नहीं जानता, वैसे ही गुरुदेव सत्यरूप होनेसे असत्य तो उनके सामने टिकता ही नहीं। मैं उनका वर्णन तथा उनकी तुलना कैसे करूँ? समस्त आकाश पृथ्वी, मेरु-मन्दर, समुद्र तराजूके एक पलड़ेपर रखनेसे भी मेरे गुरुदेवकी तुलना नहीं हो सकती। वे कहते हैं :

असा हा तुका। तूकिता तूकवेना।
नयेचि तुका। साम्य दुजे दिसेना॥

(महाराष्ट्र-भाषामें 'तूक' शब्द तुलनाके अर्थमें प्रयुक्त किया जाता है) —मेरे गुरुदेव तुकाराम महाराजकी तुलना कभी हो ही नहीं सकती, क्योंकि उनके समान कोई वस्तु है ही नहीं।'

'यह समूचा जगत् मेरे गुरुदेवका चिद्विलास है। महद् ब्रह्मसे अणु-रेणुपर्यंत वे ही एकमात्र भरपूर हैं। शब्दोंसे उनका वर्णन नहीं किया जा सकता और बुद्धि, तर्क, एवं सिद्धान्त भी उनके पासतक नहीं पहुँचते।'

'कोटि - कोटि ब्रह्माण्ड निर्माण करके जो उनसे अलिप्त रहे हैं, जिन्होंने अपने रोमकूपमें विशाल भू-गोल पाल रखे हैं, इतना ही नहीं, जो कभी चतुर्भुज नारायण बनते हैं, कभी राम तो कभी कृष्ण, कभी कच्छप-वराह तो कभी नरसिंह और वामन बनते हैं—उन गुणातीत गुरुदेवका वर्णन मैं क्या कभी कर सकता हूँ?'

देवव्यास, वाल्मीकि, शुकदेव, नारद सभी यही कहते हैं कि श्रीहरिमें और सद्गुरुमें कभी भेद नहीं होता :

हरि सद्गुरु संतहि ऐक्यभावे।
जेणे लक्षिळे, आभिला तोचि दैवे॥

'हरि, सद्गुरु और सन्त इन तीनोंको एकरूप देखनेवाला बड़ा भाग्यशाली समझना चाहिए।'

'जिन्होंने यह नभोमंडल बिना-स्तम्भ सिरपर तान दिया है, जिनकी शक्तिसे पृथ्वी दोलायमान नहीं होती, चन्द्र, सूर्य आदि नक्षत्रमाला बनाकर जो अपनी असंख्य लीला प्रकट कर रहे हैं, जिनकी कृपासे शरीरमें प्राण-अपानका संचार होता है और इन्द्रियाँ अपना काम ठीक ठीक करती हैं, प्रत्यक्ष काल भी जिनकी आज्ञाका उल्लंघन

नहीं कर पाता, वे मेरे गुरुदेव तीनों लोगोंके सत्ताधीश स्वामी हैं। उनकी आज्ञाके बिना अणु-रेणु भी अपने स्थानसे हिल नहीं सकते। उनकी आँखोंकी पलकोंके इशारेपर समस्त विश्व गूँज रहा है।'

'मेरे गुरुदेव सर्वव्यापी और सर्वरूप रहते हुए भी सभीसे अलग हैं। अपने स्वरूपमें ज्यों-का-त्यों रहकर सूर्यके समान सिर्फ एक अंशसे जगत्‌को स्पर्श कर रहे हैं। सूर्य अग्नि, जल, वायु, आकाश सभी मेरे गुरुदेवके गुणोंसे प्रभावित हैं। तैंतीस कोटि देव उनकी वन्दना करते हैं। आत्मदर्शनकी जिन्हें प्यास है, वे हमारे गुरुदेवको अवश्य पहचानें। जिन्होंने मेरे गुरुदेवका यथार्थ दर्शन किया, मानो उन्हें आत्माकी पहचान हो गयी।'

'हम अब अन्य साधन, जप तप क्या करें? सिर्फ अक्षर रटनेसे कुछ सुख तो मिलेगा नहीं, बल्कि व्यर्थमें दंभअभिमान बढ़ जायेंगे। तप, मंत्र, यंत्र, उपासना हमें प्रवाहपतित कर सकती हैं। आसन-प्राणायामसे तो मन ऊब गया है। ऐसी स्थितिमें गुरुदेव तुकाराम महाराजका स्मरण ही एकमात्र सहारा है। उनके एक वाक्यसे आत्मपदका साक्षात्कार हो सकता है।'

संत निळोबा कहते हैं: 'श्री पंढरीनाथके भक्त तो बहुत दीखते हैं, लेकिन सद्‌गुरुके शिष्य दुर्लभ ही हैं। जिनके सिरपर गुरुदेव भगवान्‌का कर स्पर्श हुआ है, उनका दास्य स्वयं भगवान् करते हैं। सद्‌गुरुकी सेवामें जिनकी रुचि है, उन्हें मोक्ष-मुक्ति तथा वैकुण्ठके महाभोग भी लुभा नहीं पाते।'

'मैं स्वामी तुकाराम महाराजके चरणोंमें हमेशाके लिए रंग गया हूँ। उन्होंने मेरी आँखोंमें दिव्यांजन लगाकर मुझे अपने स्वरूपके दर्शन-योग्य बना लिया है।'

'मेरे हृदयमें सद्‌गुरु तुकाराम-की प्राप्ति एक अद्भुत लाभ है।

जयाचेनि भोजें निळा नाचता हे।
जनी-विजनीं तोचि सर्वत्र पाहे॥

—'जिस आनन्दसे निळोबा नाच रहे हैं और जन-विजनमें सर्वत्र उसी-का दर्शन कर रहे हैं।'

स्तवनके उपसंहारमें इस भक्त-राजने अपने गुरुदेवसे बहुत नन्हीं-सी प्रार्थना की है।

निळा हेचि प्रार्थूनि मागे तयासी
म्हणे हृदयी माझिये त्वां बसावे
सदा नाम-संकीर्तनी प्रेम द्यावे।

'मेरी गुरुदेवके प्रति इतनी ही प्रार्थना है कि वे मेरे हृदयमें विराजते रहें और हमेशाके लिए नाम-संकीर्तनमें मुझे प्रीति (प्यास) प्रदान करें। ३३२ श्लोकोंमें आबद्ध इस स्तवनका एक आवर्तन रोज करनेवालेको, प्रत्यक्ष गुरुदेव पधारकर

[सन्त निळोबा

बोध करेंगे, ऐसी गुरुस्तवनके पाठकी फलश्रुति संत निळोबाजीने अन्तिम श्लोकमें बतायी है।

गुरुदेव तुकाराम महाराजके चरणोंमें प्रवाहित होनेवाली यह भाव-गंगा अनन्त कालतक बहती रहेगी। जब हम अंतर्मुख होते हैं तो गुरु-कृपासे हमें भी इसका मंगल-दर्शन मिल सकता है।

फाल्गुन कृष्ण द्वितीयाको तुकाराम महाराजने सदेह वैकुण्ठ-गमन किया था। महाराष्ट्रमें यह मंगल तिथि 'तुकाराम-बीज' के नामसे स्थान-स्थानपर मनायी जाती है।

संत निळोबाने भी इसी तिथिको अपने प्राणप्रिय गुरुदेवका स्मरण करते हुए समाधि ले ली।

संत निळोबाकी इस मंगल-जीवनी और उनकी प्रगाढ निष्ठासे हमारे जीवनमें ईश्वर तथा गुरु-देवके प्रति भक्तिभाव खिलता रहे।

●

जब प्राणी वेद शास्त्रोंके अनुसार कुछ सद्धर्म, सत्कर्मका निष्काम भावसे आचरण करता है तब उसके मनमें भगवान्‌के चरणोंमें श्रद्धा उत्पन्न होती है और श्रद्धापूर्वक भगवान्‌की उपासना करनेसे मनकी चञ्चलता दूर होती है। निष्काम, वैराग्ययुक्त और निश्चल मनमें ही आत्माका यथार्थ बोध होता है। जब मनमें किसी विषयका विचार न हो और निद्रा भी न रहे उसी अवस्थामें आत्माका अनुभव होता है जिससे जीवका आवागमन और क्लेश मिटते हैं। ध्यानमें जो आकार बनाया जाता है, वह मिटता नहीं, जितने अंशमें बुद्धि लगती है वह स्पष्ट और शेष अस्पष्ट रहता है। जितना रूप बना लिया गया उसको नष्ट न समझकर स्थिर ही समझना चाहिए।

●

पत्रोत्तर

(१)

बम्बई
२५-९-'७४

प्रिय दोदराजका,

सप्रेम नारायणस्मरण।

आपका पत्र प्राप्त हुआ।

(१) गीतामें कहा गया है : जो प्रेमपूर्वक भगवान्‌का भजन करते हैं उनपर प्रभु कृपा करते हैं। मनका प्यार और बुद्धि का विचार दोनों प्रभुको अर्पित हों, केवल प्रभुके लिए जियें। उन्हींके सम्बन्धमें परस्पर कथोपकथन करें। तुष्टि और आनन्द उन्हींमें मिले। भगवान् अपने समीप आनेकी बुद्धि देते हैं, बुद्धिको अपने साथ जोड़ लेते हैं। उन्हीं पर अनु-कम्पा करनेके लिए भगवान् प्रदीप्त ज्ञानदीपसे अज्ञानान्धकारका नाश करते हैं।

भक्तिसिद्धान्तमें भगवान्‌की कृपाको साधन-साध्य नहीं माना जाता। वह भगवान्‌का अपना निज स्वभाव है, अपने निजजनपर प्रकट होता है। भगवान् ही साध्य हैं और वही साधन उनकी कृपा ही साध्य है और कृपा ही साधन। इस अनन्य विश्वासमें ही कृपाकी अभिव्यक्ति होती है।

(क) भगवत्कृपाके लिए ही भजन करना, दूसरी इच्छा न करना, इतना जप-तप करनेसे कृपा मिलेगी इस प्रकार कृपाका मूल्य-निर्धारण करके उसको छोटा न समझना।

(ख) कृपाके लिए व्याकुल होना। युग-युग और जन्म-जन्म बीत गये, प्रभुके बिना अब रहा नहीं जाता। हृदयमें तीव्र व्याकुलताका उदय होनेसे कृपाका अनुभव होता है।

(ग) अपने विश्वासके अनुसार जिन सत्पुरुषोंको भगवत्कृपाका

अनुभव हुआ है, उनका सत्संग करना। जैसे दीयेसे दीया जलता है वैसे ही कृपापात्र भक्तके संगसे कृपा प्राप्त होती है।

(घ) अनुभवी कृपापात्र भक्तोंका कहना है कि जैसे सूर्यका स्वभाव प्रकाश बरसाना है वैसे ही भगवान् का स्वभाव कृपा बरसाना है। जगत्में सब कुछ उन्हींकी मधुर-मधुर कृपाका उल्लास है। उनकी कृपाकी कमी नहीं, साधारण जन उसको पहचानते नहीं हैं। जब हम ऐसा सोचते हैं कि भगवान् यह कर दें या वह कर दें, तब कृपा है तो हम अपनी वासना-के जालमें फँस जाते हैं। भगवान्ने जो किया जो कर रहे है जो करेंगे वह सब कृपा ही है—जो इस प्रकार उनकी कृपाको पहचानता चलता है, उसको सर्वत्र सर्वदा सर्वथा कृपाका ही अनुभव होता है। उसको भगवान्से कभी मतभेद नहीं होता। भगवान् जो कुछ कर रहे हैं वह प्रभुकी परमानन्दमयी सर्वहितकारिणी कृपाका ही विलास है।

(२) वासनाएँ और पापकर्म तभीतक रहते हैं जबतक हम ईश्वरसे विमुख होकर या अनात्मासे तादात्म्यापन्न होकर अपनेको देहादिके रूपमें अभिमानते हैं। जहाँ अपने शुद्ध आत्मामें स्थिति हुई अथवा ईश्वरांशके रूपमें अपना अनुसंधान हुआ, वहाँ देहाभिमान साँपकी केचुलके समान छूटकर अलग हो जाता है। अहंभावमें ही वासना और कर्मका निवास है। उसके छूट जानेपर पाप-पुण्य, राग-द्वेष, सुख-दुःख जन्म-मरण, गमन-आगमन सभी छूट जाते हैं। वेदान्तकी दृष्टिसे आत्मानु-सन्धान और भक्तिकी दृष्टिसे ईश्वरांशका अनुसन्धान होना आवश्यक है। असलमें अनुसन्धान ही सम्पूर्ण अनर्थोंका निवर्तक है। आत्मा तो उस निवृत्तिसे उपलक्षित परमानन्दस्वरूप ही है।

भगवान्के सम्मुख होते ही सारी शंकाओंका समाधान हो जाता है।

मर्त्यो यदा त्यक्त समस्तकर्मा निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे।
तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानोमयाऽऽत्मभूताय च कल्पते वै॥
(भाग० ११-२९-३४)

यह मृत्युग्रस्त मनुष्य जब कर्तापन, कर्माग्रह और कर्मफलका परित्याग करके मुझे आत्मनिवेदन कर देता है तब मेरे मनमें उसको एक विशिष्ट शिष्ट पुरुष बनानेकी इच्छा उदय हो जाती है। बस, तत्काल उसे अमृतत्वका अनुभव होता है और मुझसे एक होकर ब्राह्मी स्थिति प्राप्त कर लेता है।

कैवल्य मोक्ष दो प्रकारका होता है : एक योगसम्मत असंग द्रष्टाका अपने स्वरूपमें अवस्थान और दूसरा वेदान्तसम्मत ब्रह्मात्मैक्यबोधसे अविद्याकी निवृत्ति होनेपर निवृत्तिसे उपलक्षित अद्वितीय आत्मा ही मोक्ष है। इन दोनोंमें अन्यके रूपसे संसारका भोग तो क्या, भगवान्का भोग भी नहीं रहता। भक्तिसेवाका अर्थ होता है भजनीय, सेवनीय स्वामीको रस देना या उनका रस लेना। जहां द्वैत रहकर भी छूट गया है और उसका भान नहीं हो रहा है अथवा जहां द्वैतकी सत्ता ही बाधित हो गयी है वहाँ रसास्वादन करने-करानेकी गन्ध भी नहीं। अतएव कैवल्य मोक्ष अकेलापन है—भले ही वह योगसे हो या बोधसे।

भक्तिमें एक भक्त है और एक भगवान्। ये दोनों आपसमें मिल-जुलकर आनन्दरसका आस्वादन करते-कराते हैं। कोई विवाह भी करे और अन्तमें अकेला रहने या तलाक देनेकी शर्त लगाये तो विवाह ही निष्प्रयोजन हो जाता है। सगुण-साकारकी भक्ति विवाहके समान है। उसमें अकेलापन नहीं है। दोनोंका मिलना है। भक्त लोग इसको संसार-भोगसे तो अत्यन्त श्रेष्ठ मानते ही हैं, केवलात्मभोगसे भी परमोत्कृष्ट मानते हैं। वे मोक्षके नामको ही पसन्द नहीं करते। भक्तलोग सालोक्य=भगवान्की नगरीका नागरिक होना, सामीप्य=उनके पास रहकर सेवा करना, सारूप्य=उनके समान रूप, वेशभूषा आदि धारण करना और सायुज्य भोजन-पानादिके रूपमें उनके शरीरमें प्रविष्ट होकर उनसे एक हो जाना—इसीको मोक्ष मानते हैं। उनकी परिभाषामें मोक्ष का अर्थ कैवल्य होता ही नहीं। इसलिए वे मोक्षका भी तिरस्कार करके भगवान्से प्रेम करते हैं। भक्ति भगवान्के सगुण रूपका दर्शन करानेमें स्वतन्त्र है और तत्त्वज्ञान कैवल्यमोक्षका साक्षात् हेतु है।

अब प्रश्न यह है कि क्या भगवान् महावाक्यश्रवण तदर्थ-मनन एवं निदिध्यासनके बिना अपने प्रेमी भक्तको मोक्ष नहीं दे सकते? निश्चय ही जब सद्गुरु महावाक्यार्थोपदेश द्वारा मोक्ष दे सकता है, तो भगवान् भी दे सकते हैं। परन्तु किसको देंगे? जब भक्त भगवद्भोग न चाहकर उससे विरक्त होगा और कैवल्य-मोक्ष चाहेगा, तभी न? फिर, ऐसे अधिकारीको मोक्ष देनेकी कोई प्रक्रिया होगी या हाथसे उठाकर दे देंगे?

[पत्रोत्तर

सच्चा मोक्ष ब्रह्मात्मैक्यज्ञानके बिना नहीं होता। यदि कदाचित् भक्तको भगवद्रससे वैराग्य हो जाय और वह मोक्ष चाहे, तो भगवान् भी भक्तके अन्तःकरणमें अहं 'ब्रह्मास्मि' इत्याकारक अर्थका प्रतिभान देकर, जो कि शब्दसहकृत ही होता है, उसको मोक्ष दे सकते हैं। मोक्षका मार्ग ज्ञानका मार्ग है तो भक्तिका मार्ग मिलनका मार्ग एक प्रमाण-प्रधान है तो दूसरा भावप्रधान। एकमें आवृत्ति है, दूसरा निरपेक्ष है। एकका फल मनपसन्द है, दूसरेका फल यथार्थ। दोनोंको एकमें मिलानेकी कोई आवश्यकता नहीं। उनके हेतु, स्वरूप, फल और अधिकारोंमें पार्थक्य है। ठीक-ठीक समझनेकी आवश्यकता है। वहाँ जो सेठ जयदयालयीजी बात लिखी गई है, वह ठीक ही है। प्रेम-मिलन तलाक नहीं है और तलाक मिलन नहीं हैं, कैवल्य है। मोक्षका अर्थ है सम्बन्धका विलय, सम्बन्धका त्याग, स्वरूपावस्थान अथवा अविद्यानिवृत्तिसे उपलक्षित ब्रह्मस्वरूप आत्मा। मोक्ष किसी भी प्रकारकी वृत्ति या वृत्तिसाध्य स्थितिको सहन नहीं करता।

जप, ध्यान या मन्दिरमें भगवद्दर्शन करते समय अपना ही स्वरूप या चेहरा दीखता है और तुमने पहले कभी ऐसा भी कहा था कि भगवद्-गुणानुवाद श्रवण करते मुझे अश्रुपात, रोमांच या कोई दूसरा सात्त्विक विकार उदय नहीं होता। इन दोनों बातोंको एकमें मिलाने पर यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि तुम्हारी वृत्ति संसारके विषय, वस्तु, व्यक्ति या अन्य देवताके प्रति संवेदनशील नहीं है। यह वैराग्य नहीं तो वैराग्यका पूर्वाभास अवश्य है। यह भी संभव है कि किसी सत्पुरुषने तुम्हारे शरीर को देवताबुद्धिसे ध्यानका विषय बनाया हो। इससे भी अपने शरीरमें दूसरोंकी अपेक्षा अधिक महत्त्व-बुद्धि हो जाती है। चाहे कारण कुछ भी हो, इतना अवश्य है कि तुम बाहरकी ओर भक्ति और भीतरकी ओर तत्त्वज्ञानके द्वारपर बैठे हो। तुम्हारी यह आत्मप्रधान दृष्टि वैराग्यसे संसृष्ट है और यह प्रगतिके मार्गको प्रशस्त करती है।

यह है तो देहाध्यास ही, परन्तु विषयभोगमें रुचि और व्यक्तिविशेषमें आसक्ति न होनेके कारण उत्तम देहाध्यास है। यदि तुम अपना ही ध्यान करती होती—नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त, असङ्ग आत्मा का, तो यह अध्यास, बाह्य कोषोंसे निवर्तक होकर साधन हो जाता। यह अन्य भगवान्के ध्यानमें उतना सहायक नहीं है। यदि इसे भगवत्प्रेममें सहायक बनाना

हो तो अपने शरीरमें दासी, गोपी, सहचरी या राधाभावका आरोप करना पड़ेगा। तब इस शरीरके ध्यानका सम्बन्ध भी भगवान्‌से जुड़ जायगा। यह साधकपर ही निर्भर है कि वह अपने देहाध्यासको किस दिशा में गति दे।

हमारा प्रेम और आशीर्वाद तुम्हें प्रत्येक परिस्थितिमें प्राप्त है और तुम्हारी उत्तम अभिलाषाएँ अवश्य पूर्ण होंगी।

पहले पत्रके सम्बन्धमें केवल इतना ही कहना है कि मां अथवा सत्पुरुष बच्चेको तभी प्रेमसे सम्हालकर रख सकते हैं जब वह अनन्य समर्पणके भावसे उनके प्रति निर्भर हो जाय। शरणागतिमें योग्यता अपेक्षित नहीं है परन्तु अनन्य विश्वासकी आवश्यकता होती है। भटकता हुआ विश्वास जीवनमें किसीकी कृपा या संकल्पको मूर्त होनेमें बाधा डालता है। अतः स्वामी विवेकानन्दके प्रति परमहंस रामकृष्णकी आत्मीयता जन्म-जन्मके विश्वास और सम्बन्धका फल है, ऐसा मानना चाहिए। कोई सत्पुरुष हमपर स्वतः एवं निर्हेतुक करुणा कब करेगा, इस आशामें अपने साधन भविष्यको दूर नहीं फेंकना चाहिए और अपनेको सम्भावनापर निर्भर नहीं होने देना चाहिए। अपनी ओरसे व्याकुलता एवं प्रयत्न आवश्यक है। अपनेको अज्ञानी समझना अच्छा है, परन्तु तब जब अज्ञानी स्वयंको ज्ञानीके प्रति समर्पित कर दे। तब वह जिस साँचेमें चाहेगा, स्वेच्छासे ढाल सकेगा। अविश्वास हृदयमें प्रकट होते हुए ईश्वरके आकारको आवृत कर देता है। अतः अपने मनको विश्वाससे भरपूर रखकर ही आगे बढ़ना होता है।

●

कर्म यदि भगवान्‌के उद्देश्यसे हो, तब तो भगवान्‌के स्मरणमें कोई बाधा पड़ ही नहीं सकती। यदि कर्मके साथ तुम इतने आसक्त हो कि उसके लिये भगवान्‌का स्मरण तक छोड़ बैठते हो, तो अवश्य कहीं-न-कहीं तुम्हारा स्वार्थ है। इस स्वार्थको ढूँढ़कर तुम यदि प्रभुके श्रीचरणोंमें समर्पित कर सको तो आज ही तुम्हारा जीवन धन्य हो जाय।

क्या शान्तमें भक्तिका अन्तर्भाव सम्भव ?

-- डॉ० सुवालाल उपाध्याय, 'शुकरत्न' --

[एम० ए०, पी-एच० डी०, साहित्याचार्य]

रस-सिद्धान्त काव्यके अनुपम आनन्दकी व्यवस्था-मूलक व्याख्या है। संस्कृत-काव्यशास्त्रके लगभग दो हजार वर्षोंके इतिहासमें, रस-संख्या-पर निरन्तर विमर्श चलता रहा है। विभिन्न आचार्योंने रसके एक, आठ, नौ, दस, बारह अथवा असंख्य भेदोंकी ओर संकेत किया है। यद्यपि नाट्याचार्य भरतकी परम्पराका सम्मान करनेवाले अनेक परवर्ती दिग्गज आचार्योंने नौके आस-पास ही रसकी संख्या रखनेका समर्थन किया है। अन्य सम्भावित रसोंका अन्तर्भाव या तो उन्होंने नव रसोंमें ही करनेका प्रयास किया[1] अथवा उनको 'भाव' कोटिमें ही रखकर सन्तोष कर लिया है।[2]

आचार्य अभिनव गुप्तपादने, नाट्यशास्त्रके पाठभेदके आधारपर, भरत द्वारा 'शान्त' के साथ नौ रसोंकी मान्यताका प्रबल समर्थन किया है। इतना ही नहीं, शैव-दर्शनकी चेतनाके अनुरूप 'शान्त' को ही स्वतन्त्रतम और मूलरस प्रतिपादित करनेके लिए विशेष कष्टसाध्य परिश्रम कर उन्होंने रसके नौ भेदोंको मान्यता प्रदान की है। 'अभिनव-भारती'के एक पूरे प्रकरणमें शान्तके मूलस्व-रूपकी व्याख्या अत्यन्त विशद रूपसे की गयी है। उन्होंने स्पष्टतः भक्तिके

---

१. (क) एते नवैव रसाः, पुरुषार्थोपयोगित्वेन रञ्जनाधिक्येन वा इयता-मेवोपदेश्यत्वात् । (अभिनव-भारती, पृष्ठ ६४० ।)

(ख) प्रीति-भक्त्यादयो भावा मृगयाक्षादयो रसाः ।
हर्षोत्साहादिषु स्पष्टमन्तर्भावान्न कीर्तिताः ॥ (दशरूपक, ४.८३)

(ग) रसानां नवत्वगणना च मुनिवचननियन्त्रिता भज्येत; इति यथा-शास्त्रमेव ज्यायः ।—रसगंगाधर, पृष्ठ १७६ । (चौखम्बा संस्करण)

२. रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः ।...भावः प्रोक्तः ।
—काव्यप्रकाश, ४.३५)

रसत्वका प्रत्याख्यान कर उसे शान्तमें ही अन्तर्भूत कर किया है।[1] उन्होंने स्नेह-रसकी पृथक् सत्ताका भी निषेध किया है।[2]

अभिनवगुप्तने भक्ति तथा अन्य रसोंके स्वतन्त्र अस्तित्वके प्रत्याख्यानमें जहाँ अपनी युक्तियोंका सहारा लिया है, वहाँ मुनिवचन और विद्वत्-परिषद्की मान्यताको भी प्रमाण स्वरूप उद्धृत किया है।[3]

यद्यपि भक्ति-रसकी स्वीकृतिके सम्बन्धमें अनेक प्रश्न हैं: क्या यह मनुष्य-मनका मौलिक-भाव नहीं है? फिर स्थायीभाव कैसे? इसको भाव माननेमें क्या आपत्ति है? क्या भक्तिकी रसरूपमें अनुभूति हो सकती है? संस्कृत-काव्य शास्त्रके आचार्योंने भक्ति-रसको मान्यता क्यों नहीं दी? साहित्यशास्त्रमें सिद्धान्ततः मान्यताप्राप्त विविध दार्शनिक भूमियोंपर अधिष्ठित, रस-निष्पत्ति-विषयक सिद्धान्तोंका, वैष्णव-दर्शन एवं भक्ति-रस-निष्पत्तिके साथ कैसे सामञ्जस्य बिठाया जा सकता है? उनमें परस्पर साम्य और वैषम्य क्या है? अभिनव गुप्तपाद आदिकी मान्यताओंसे, वैष्णव-दर्शनकी मान्यताएँ विविध दृष्टियोंसे भिन्न हैं, अतः क्या भक्ति रस-निष्पत्तिमें साहित्यशास्त्रीय मान्यताओंको अपने प्रचलित रूपोंमें ही ग्रहण किया जा सकता है? इसका परम्परागत शान्त और शृंगारमें अन्तर्भाव क्यों नहीं हो सकता? इन विविध प्रश्नोंमें से, केवल शान्तमें भक्ति-रसके अन्तर्भावके प्रश्नको लेकर ही प्रस्तुत लेखमें विचार किया जा रहा है।

यह विचारणीय है कि यद्यपि शान्त और भक्ति दोनों सुखात्मक प्रकृतिके हैं, भगवत्प्राप्ति भी दोनोंका उद्देश्य है, विषय-वैराग्य, साधन-सम्पत्ति आदिमें भी कुछ-कुछ समानता है; फिर भी भक्तिका अन्तर्भाव शान्त-रसमें क्यों नहीं हो सकता? संस्कृत काव्यशास्त्रके आचार्योंमें सर्वप्रथम विश्वनाथने इसका निषेध किया है।[4] यद्यपि उन्होंने इसका कोई प्रमुख कारण नहीं बताया, केवल इतना

---

१. (क) अत एवेश्वरप्रणिधानविषये भक्तिश्रद्धे, न तयोः पृथग् रसत्वेन गणनम्। (अभिनव-भारती, पृ० ६३६।)

(ख) एषैव गर्वस्थायिकस्य लौल्यरसस्य प्रत्याख्याने सरणिर्मन्तव्या। हासे वा रतौ वान्यत्र पर्यवसानात्। एवं भक्तावपि वाच्यमिति। (वही, पृष्ठ ३४१)

२. अभिनव-भारती, पृष्ठ ६४१।

३. अभिनव-भारती, पृष्ठ २४०।

४. 'निरहङ्काररूपत्वाद् दयावीरादिरेष नो।' आदिशब्दाद् धर्मवीरदेवतान्तरविषयकरतिप्रभृतयः। (साहित्य-दर्पण, ३.२५० की वृत्ति।)

ही लिख दिया है कि दयावीर, देवताविषयक रति आदिमें अहङ्कारकी मात्रा रहती है, किन्तु शान्तमें अहङ्कारका किञ्चिन्मात्र भी सद्भाव नहीं होता। इसलिए उनका शान्तमें अन्तर्भाव नहीं हो सकता। उनका यह कथन मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे ठीक है, क्योंकि भक्तमें यह अभिमान तो रहता ही है कि प्रभु मेरे उपास्य हैं और मैं उनका उपासक हूँ तथा अपने प्रभुसे कुछ न चाहते हुए भी, भगवत्प्रेम-भावनाकी पुष्टिमें एक अनिर्वचनीय परमानन्दस्वरूप भगवान्का भोग कर रहा हूँ, अर्थात् भगवान् मेरे भोग्य हैं इस भावनाकी भोक्तृत्ववृत्ति तो रहती है जब कि शान्तमार्गका पथिक भोक्ता-भोग्यकी भावनाका बाध कर देनेमें ही अपनेको कृतकृत्य मानता है।

शान्तमें भक्ति-रसके अन्तर्भावका निषेध पण्डितराज जगन्नाथने भी किया है, उनका कहना है : "भक्ति-रसका स्थायीभाव अनुराग है और शान्त-रसका वैराग्य, ये दोनों परस्पर विरुद्ध हैं, फलतः विरुद्ध स्थायीभाववाले रसोंका एक दूसरेमें अन्तर्भाव नहीं हो सकता।[1] इसपर यदि यह कहा जाय कि भक्तिमें अनुराग ईश्वरके प्रति और विराग संसारके प्रति रहता है, अतः आलम्बन भेद होनेसे दोनोंका वैसे विरोध सिद्ध नहीं होता, जैसे रस-गङ्गाधरके रचयिताने परिकल्पित कर लिया है।[2] यह कथन उपयुक्त नहीं, क्योंकि भक्ति-भावनाकी उत्कटतासे भक्तका सम्पूर्ण जीवन भागवती रससे भींगा रहता है, उसे वैराग्यके लिए पृथक्से कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता, वह तो अपने आप ही उसके पीछे लगी फिरता है,[3] जबकि शान्त-रसका साधक, प्रयत्नपूर्वक निरन्तर वैराग्य भावनाको जगाये रखता है, क्योंकि उस मार्गके पथिकके लिए, विरागी होना एक आवश्यक शर्त है। उसमें अनुरागकी तीव्रता नहीं होती, फलतः 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' नियमके अनुसार वह शान्त-रस ही है, उसका मार्ग पृथक् है, उसमें भक्तिका अन्तर्भाव नहीं हो सकता। कुछ लक्षण देखकर अन्तर्भाव या नामकरण करना उचित नहीं। शान्तमें अनुरागकी तीव्रता आ जानेपर उसकी गणना भक्ति-रसके एक प्रभेद शान्त-रतिमें होने लगेगी।

---

१. चासौ-शान्तरसेऽन्तर्भावितुमर्हति, अनुरागस्य वैराग्यविरुद्धत्वात्।
रस-गङ्गाधर, पृष्ठ १७४।

२. डॉ० जगदीश गुप्त, हिन्दी साहित्य कोश, पृष्ठ ५७७, द्वि० सं०।

३. तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः। न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयोभवेदिह। वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः। जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम्॥ (भाग० १।२।७)

मधुसूदन सरस्वतीका कहना है कि भक्ति-रसके लिए अपेक्षित द्रुतचित्तता शान्तमें नहीं होती, अतः भक्ति-रससे उसकी कोई तुलना नहीं है।[1] शान्तमें जिस ज्ञान-वैराग्यकी उपस्थिति अनिवार्य मानी जाती है, भक्ति-रसके प्रतिष्ठापक आचार्यरूप गोस्वामीने उनको भक्तिका अंग भी स्वीकार नहीं किया है।[2] उनके अनुसार क्रमशः कठिन तर्क-वितर्क और दुःख बुद्धिसे उत्पन्न होनेके कारण चित्त-को कठोर बना देनेवाले ज्ञान और वैराग्य सुकुमार-स्वभावा भक्तिके अंग नहीं हो सकते। मोक्ष जो शान्तका अन्तिम लक्ष्य है, भक्ति मार्गमें उसकी स्पृहा-पिशाचीकी तरह वर्जनीय है।[3] इस प्रकार मार्गभिन्नता बताकर रूप गोस्वामीने शान्त-रसके मूलपर ही प्रहार कर दिया, जिससे शान्त-रसमें भक्ति-रसके अन्तर्भावका प्रश्न ही नहीं बचता।

शान्तमें जगत्के सभी सम्बन्ध त्याज्य हैं, उसमें तृष्णाका क्षय परम काम्य है किन्तु भक्तिमें जगत्के उन सभी सम्बन्धोंको वर्जित न करके, उन सभीकी ममताकी मोटी रस्सी बनाकर प्रभु चरणोंमें बाँधना, संसारके सारे बन्धनों और सम्बन्धोंको परमात्मासे जोड़ना है।[4] शान्तका आत्मज्ञान भक्तिमें अनिवार्य नहीं, उसका सुख केन्द्र आत्म-विश्रान्ति है, भक्तिका भगवत्प्राप्ति। भक्तिका दैन्य शान्तमें नहीं है—भक्तानां दैन्यमेवैकं हरितोषणसाधनम्।

शान्त निर्भेद ब्रह्मानुसन्धान करता है, भक्त सद्घन चिद्घन, प्रेमानन्दैकविग्रह प्रभुका समर्चन। भक्ति-मार्ग सभीके लिए उन्मुक्त है—शास्त्रतः श्रूयते भक्तौ नृमात्रस्याधिकारिता।[5] सुलभ भी है—धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्खलेद् न

---

१. भक्ति रसायन, २।२५-२९।

२. ज्ञानवैराग्ययोर्भक्तिप्रवेशायोपयोगिता।
ईषत्प्रथममेवेति नाङ्गत्वमुचितं तयोः॥
यदुभे चित्तकाठिन्यहेतू प्रायःसतांमते।
सुकुमारस्वभावेयं भक्तिस्तद्धेतुरीरिता॥
(भक्तिरसामृतसिन्धु, पूर्व, २।६७-६८)

३. भुक्तिमुक्तिस्पृहायावत्पिशाची हृदिवर्तते।
तावद् भक्तिसुखस्यात्र कथमभ्युदयोभवेत्॥
(भक्तिरसामृतसिन्धु, पूर्व, २।११)

४. सबकै ममता ताग बटोरी।
मम पद मनहि बाँधि बरि डोरी॥ (रामचरितमानस)

५. भक्तिरसामृत सिन्धु, पूर्व २।१९।

स्खलेदिह ।[1] ज्ञान-मार्ग तलवारकी धारपर चलनेके समान दुर्गम है—क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्ग पथस्तत् कवयो वदन्ति ।[2] अव्यक्तकी उपासना अतिकठिन और नीरस है[3] और फिर जिसका आनन्द अव्यक्त है, वह उपासकको आनन्दित भी कैसे करेगा ? अव्यक्तमें आनन्दका उल्लास कहाँ ? ज्ञान-मार्गमें अधिकारी भेदकी भी जटिल समस्या है ।

भगवान्‌के त्रिभुवन रमणीय लोकोत्तर सौन्दर्य और अपरिमेय अनन्त आकर्षण को भावात्मक इन्द्रियोंसे देख-सुनकर, भक्तके मनमें जो उन्मत्त और पागल बना देनेवाली उत्कट रसानुभूति आविर्भूत होती है, वह शान्तमें सर्वथा असम्भव है। महाप्रभु चैतन्यका जीवन इसका मूर्तिमान् उदाहरण है। श्रीमद्भागवतमें श्रीकृष्ण-सुदामा मिलनके समय भागवतकारने ब्रह्म-सिद्धिके लिए भी भक्ति-पथके उत्कृष्टतम होनेकी घोषणाकी है—

> न युज्यमानया भक्त्या, भगवत्यखिलात्मनि ।
> सदृशोऽस्ति शिवःपन्था, योगिनां ब्रह्मसिद्धये ॥ (भाग० १०।८०।१८)

शान्त प्रायः स्वकेन्द्रित होता है, इधर भक्त अकेला ही कल्याणी सृष्टिका यात्री नहीं बनना चाहता, वह समस्त समाजका भक्ति-सुरसरित्‌से आप्लावित करता हुआ आगे ले जानेका प्रयत्न करता है।

मानव-चेतनाकी मूलवृत्ति रागात्मक-भावनाकी प्रबल प्रेरकताका स्वात्म-विश्रान्त शान्तमें नितान्त अभाव ही दिखाई पड़ेगा। मनोविकारोंसे रहित विरतिपूर्ण शान्तमें चित्तवृत्तियोंके रमनेका अवकाश ही कहाँ रहता है ?

म० म० गोपीनाथ कविराजके अनुसार साधना जगत्‌का एक रहस्य है, सिद्धावस्थामें यहाँ एक ऐसी स्थिति आती है, जबकि योगी इच्छाशक्तिकी उपेक्षा करके भक्तिकी ओर उन्मुख होता है। उसे उससे किसी भी प्रयोजन-सिद्धिका उद्देश्य नहीं रहता। तथापि वह उसको चाहे बिना रह नहीं सकता।[4] त्रिपुरा-रहस्य[5] तथा बोधसारमें[6] अत्यन्त स्पष्ट शब्दोंमें यहा कहा गया है। इस प्रकार

१. भागवत ११।२।३५ । २. कठोपनिषद् ।
३. गीता, १२।५
४. कल्याण, उपासना,—अंक, पृष्ठ ६९४ ।
५. स्वभावस्य स्वरसतो ज्ञात्वापि स्वाद्वयंपदम् ।
विभेदभावमाहृत्य सेव्यतेऽत्यन्ततत्परैः।—त्रिपुरा रहस्य, ज्ञानखण्ड, २०।३४।
६. सर्वेश्वरस्तु सुधिया गलितेऽपि भेदेभावेन भक्तिसहितेन समर्चनीयः ।
प्राणेश्वरश्चतुरया मिलितेऽपिचित्ते, चैलाञ्चलव्यवहितेन निरीक्षणीयः ॥
भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्—बोधसार ।

अद्वैतकी ओर उन्मुख शान्त-रसका साधक पुनः इस सरसभावकी ओर मुड़कर अद्वैतमें द्वैत रसानन्दका अनुभव करना चाहता है, इसमें द्वैताद्वैतका यह अनुपम मणि-कांचन संयोग है।

शङ्कराचार्यके नामसे प्रसिद्ध पद्यमें कहा गया है—'हे नाथ भेदके दूर हो जानेपर भी मैं तुम्हारा हूँ, तुम मेरे नहीं, तरङ्ग समुद्रका हुआ करता है किन्तु समुद्र तरङ्गोंका नहीं।[1] तुलसीदास भी इसी बातका एक अन्य तर्क द्वारा समर्थन करते हैं—जैसे जल भूमिके बिना, आधारके अभाव में, करोड़ों उपाय करनेपर भी किसी तरह ठहर हो नहीं सकता, वैसे ही मोक्षानन्द भी हरि-भक्तिको छोड़कर, किसी तरह भी नहीं रह सकता।[2] भागवतमें इस विचारके पोषक अनेक उदारहण मिल सकते हैं।[3] इससे भक्ति रसको शान्तिसे उत्कृष्टता सिद्ध होती है। फिर उसका शान्तमें अन्तर्भाव कैसे सम्भव है?

दोनोंके पथ भी पृथक्-पृथक् हैं। भक्ति-रस लोकोत्तर अनुराग राग-रञ्जित है, भक्ति मृदु, मधुर, सुकुमार स्वभावा है। शान्त कठोर है, वैराग्य प्रधान है। भक्ति स्वादुस्वादु, पदे पदे पुलक, रोमाञ्च, अश्रुपात जैसे अतिप्रिय स्वयंको भी विस्मृत करा देनेवाले 'उन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः' अनुभावोंसे अनुभवनीय, भगवदेकशरण्य है, शान्त इससे शून्य 'सोऽहमस्मि' को अखण्ड वृत्तिमें अवस्थित, संसारके मिथ्यात्वके दृढ़ निश्चयमें लगा हुआ, असङ्ग, निज-सम्बल-परतुष्ट-स्वभाव है। शान्त निस्तरङ्ग महोदधिकल्प समरस है, भक्ति-रस मृदु भावनाओंको असंख्य तरङ्गोंसे लहराता हुआ अमृतका सागर है। फलतः भक्ति-रसका अन्तर्भाव शान्तमें करना उचित प्रतीत नहीं होता। अपने साथ भगवदनुरागके युक्त होनेपर, वही 'शान्त-रति' के रूपमें भक्ति-रसमें अन्तर्निविष्ट है। अन्तःकरणकी सविशेष भगवदाकाराकारित स्निग्धावृत्ति हा भक्ति है और अन्तःकरणकी द्रवतानपेक्षमहावाक्यजनित निर्विशेष ब्रह्माकाराकारित वृत्ति ही शान्त-रस है।

---

१. सत्यपि भेदावपमे नाथं तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रोहि तरंगः क्वचन समुद्रो न तारंगः॥—षट्पदी

२. जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई।
कोटि भाँति कोउ करे उपाई॥
तथा मोक्ष सुख सुनु खगराई।
रहि न जाइ हरि भगति बिहाई॥—(रामचरितमानस)

३. आत्मारामाश्चमुनयो निर्ग्रन्थाअप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगणो हरिः॥ (भागवत १।७।१०)

मधुसूदन सरस्वतीने ब्रह्म-विद्या और भक्तिका भेद अनेक आधारों द्वारा स्पष्ट किया है।[1]

सच पूछा जाय तो भक्त ब्रह्मानन्दको प्रेमानन्दका सबसे बड़ा आवरण मानते हैं, क्योंकि प्रेमानन्दकी आधारभूत आकृति और गुण, ब्रह्मानन्दमें मायाकल्पित कहकर छोड़ दिये जाते हैं, भक्त तो 'करोड़ों ब्रह्मानन्द-चमत्कारके समान भक्ति-रस हैं' इस कथनको भी लज्जाजनक स्वीकार करते हैं।[2]

---

१. भक्ति रसायन (प्रथम उल्लास)

२. (क) कृष्णदास अभिमाने ये आनन्दसिन्धु।
कोटि ब्रह्म सुख न हे तार एक बिन्दु। (चै० च० आदि, ६।४८)

(ख) ब्रह्मानन्दचमत्कारकोटिं जनयते रसः।
ईहमुक्तिस्तु भक्तानां लज्जां जनयति स्फुटम्॥

—भक्ति-रस-तरङ्गिणी, नारायणभट्ट, पृ० ५७।

●

गुरु

जिस बातको हम अपनी इन्द्रियोंसे मनसे और बुद्धिसे नहीं समझ सकते; उस बातको अनुभव करानेके लिए ही गुरु और शास्त्रकी आवश्यकता है। परमात्मा इन्द्रियोंके द्वारा देखा नहीं जा सकता, मनके द्वारा उसका ध्यान नहीं हो सकता और बुद्धिके आकलनमें वह कभी आ नहीं सकता—ऐसे मन-वाणी और बुद्धिके अविषय, अखण्ड, अद्वितीय ब्रह्मतत्त्वकी आत्मरूपसे अनुभूति करा देना एकमात्र गुरुका ही चमत्कार पूर्ण अद्भुत कार्य है।

× × ×

श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ होनेके साथ ही यदि कोई निवृत्तिपरायण भी हो, तो ऐसे शान्त महात्माओंके द्वारा प्रवचन उपदेश किये बिना भी बहुत बड़ा लोक-कल्याण होता है; क्योंकि ऐसे शान्त महापुरुषोंका जीवन ही लोगोंको अद्भुत सन्देश देना है।

●

भ्रान्ति; क्रान्ति और शान्ति

श्री हरिकिशनदास अग्रवाल

मनुष्यके जीवनमें अनेक प्रकारकी भ्रान्तियाँ होती हैं। जिनमेंसे एक मुख्य भ्रान्ति यह भी है कि "मैं शरीर हूं।" वस्तुतः शरीर न मैं है और न मेरा। यह तो पंच-महाभूतोंका बना है। इसका आकार-प्रकार हमारा बनाया हुआ नहीं है। इसके अन्दर पाचन क्रिया, रक्तसंचार, श्वास प्रक्रिया आदि हमारे अधिकारकी बातें नहीं। अगर रक्तामिसरण हमारे अधिकारकी बात हो तो दिनभरमें हम कई बार भूल जायें। इन सब क्रियाओंको चलानेवाली कोई दूसरी ही शक्ति है। हम सिरके एक काले बालको सफेद होनेसे नहीं रोक सकते और बात-बातमें 'सिरकी कसम' खाते हैं। इससे बड़ी भ्रांति और क्या हो सकती है? शरीर "मैं" नहीं क्योंकि वह न अपनेको जानता है और न दूसरेको ही। "मैं" स्वयंको भी जानता है और दूसरेको भी। शरीर एक यंत्रकी तरह चलता है। जिस प्रकार बल्बमें प्रकाश अपना नहीं बल्कि पावर हाउसका है। जैसे—पंखेका चलना, फ्रीजका ठंडा होना, हीटरका गर्म होना, इन सबमें शक्ति पावर हाउसकी है। परंतु बल्ब अगर यह समझे कि प्रकाश मैं दे रहा हूं और यदि पंखा यह समझे कि मैं चल रहा हूं और मैं हवा दे रहा हूं तो यह उसकी भ्रान्त दशा हो जायेगी। इसी प्रकार नकलीको असली समझना, असत्को सत् समझना सबसे बड़ी भ्रान्ति है। एक तालाबके किनारे अगर हम दौड़ रहे हों तो हमें चन्द्रमाका प्रतिबिम्ब दौड़ता हुआ दिखायी देता है। पर जो जानते हैं उन्हें पता है कि चन्द्रमाका बिम्ब पानीमें कभी नहीं दौड़ता। हमें केवल भ्रान्ति हो जाती है चन्द्रमाके पानीमें दौड़ने की। पूर्णिमाकी रातको गंगाकी लहरें पिघली चाँदीकी तरह प्रकाशमान दिखायी देती हैं।

पानीके किनारेपर खड़े मनुष्यका बिम्ब उल्टा दिखायी देता है। मनुष्य तो सीधा खड़ा रहता है परन्तु सीधे खड़े मनुष्यमें भी उल्टेपनकी भ्रान्ति हो जाती है।

हमारे भीतर कार्य-कारण परमात्मा ही है। उसीसे हम जी रहे हैं।

उसीसे हम चल फिर और देख-सुन रहे हैं। यदि वह न हो तो हमारा कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं। पर फिर भी हम अपनेको कर्ता-भोक्ता मानने लगते हैं। यह भी एक भ्रान्ति ही है। सुखी तथा दुःखी होना, मनके धर्म हैं। इस जगत्में सुख-दुःख तो आते ही रहते हैं। पर तत्त्ववेत्ता मनुष्य दुःखमें दुःखी और सुखमें सुखी नहीं होते, सम रहते हैं। और दुःख तो मानसिक है, मनके इन धर्मों-को अपनेमें आरोपित कर लेना एक प्रकारकी भ्रान्ति है।

सूर्यकी किरणोंको जब उत्तल (Convex) दर्पण द्वारा केन्द्रित करते हैं तो सम्मुख रखी रूई जलने लगती है। रूईका जलना सूर्यकी रश्मियोंसे होता है। पर यदि दर्पण यह समझे कि वही रूईको जलानेका कारण है तो यह उसकी भ्रान्ति है। यदि सूर्यकी किरणें न हों तो उन्नतो-दर ताल रूईको नहीं जला सकता। सूर्यके सामने बादल हो या रातका अंधेरा हो, तो तालकी रूई जलानेकी कोई क्षमता नहीं।

सूर्यके आगे बादल आकर उसे ढंक लेते हैं और हमें सूर्य दिखाई नहीं देता। बादलोंका दिखाई देना भी सूर्यके ही कारण है। सूर्य न हो तो बादल भी हमें दिखायी नहीं देंगे। बादलका दीखना स्वतंत्र नहीं है। उनको दिखानेवाला सूर्य है पर हम बादलोंको देखते हैं और सूर्य-को नहीं।

सोनेमें हमें आभुषण दीखते हैं किंतु सोना नहीं। जौहरीको सोना दीखता है आभूषण नहीं। हमारी दृष्टिमें भ्रान्ति है और जौहरीकी दृष्टिमें वास्तविकता है।

साधारण मनुष्यको एक चमकता हुआ हीरा दिखायी देता है। पर वैज्ञानिकको उसमें कोयलेके सदृश कार्बन तत्त्व ही दिखायी देता है। वैज्ञानिक आणविक संरचना (Atomic Structure) ही देखता है। इसी प्रकार एक स्त्रीको साड़ी ही दिखायी देती है। पर वयन विशेषज्ञ (Textile Expert) को रूई और बुनाईकी विशेषतायें दिखायी देती हैं। वह कार्यके मूलको ही देखता है।

साधारण मनुष्यको दूधही दिखायी देता है। परन्तु मक्खन बनानेके कार-खानेके मालिकको दूधका मूल्यांकन मक्खनकी मात्रापर करना पड़ता है। कुछ हलवाई दूध खरीदते समय दूधमें खोवेकी मात्राको देखकर पैसे देते हैं। शुद्ध दूधमें मावा ज्यादा निकलता है। कुछ लोगोंको लकड़ीके अन्दर फर्नीचर दीखता है किसीको फर्नीचरके अन्दर लकड़ी दीखती है। फर्नीचर कार्य है और लकड़ी उसका कारण, कार्यकी दृष्टि भ्रान्तिपूर्ण है और कारणकी ओर दृष्टि, उसका ज्ञान है।

प्रायः रेडियोमें यह भ्रान्ति होती है कि हम कहते हैं कि रेडियो बोल रहा है। रेडियो न गा सकता है, और न ही बोल सकता है। रेडियोमें आवाज तो किसी रेडियो स्टेशनसे बोलनेवालेकी होती है। रेडियो तो एक यन्त्र मात्र है हमारी यह जानकारी कि रेडियो बोल रहा है, एक प्रकारकी भ्रान्ति ही है।

जब हम भ्रान्तिको समझते हैं तो हमारी दृष्टि कार्यसे उठकर कारण-पर आ जाती है। यही क्रान्ति है। मनुष्य असली वस्तुको असली और नकलीको नकली जान लेता है। मनुष्यकी दृष्टिमें एक वैज्ञानिकको और एक तत्वविद्की दृष्टि आ जाती है। वैज्ञानिक हरेक चीजको विज्ञानकी दृष्टिसे देखता है। वह भूमिके अन्दर रासायनिक दृष्टिसे देखता है। पानीको पानीकी दृष्टिसे नहीं बल्कि हाइड्रोजन और आक्सीजनकी दृष्टिसे देखता है। पानीमें उसे लाखों करोड़ों कीटाणु दिखायी देते हैं जो साधारण मनुष्यको नहीं दीखते। इसी प्रकार रक्तकी बूँदके अन्दर खुर्दबीनके द्वारा विभिन्न तत्त्व दिखायी देते हैं। वैज्ञानिक अभी पता लगा रहे हैं कि चाँदपर जो मिट्टी आदि है उसमें जीव और कीटाणु आदि हैं या नहीं? अगर हैं तो किन स्थितियोंमें रहते हैं और अगर नहीं है तो क्यों नहीं हैं? ताकि आगे चलकर जो मानव चाँदपर जायेगा वह इन सब अनुभवोंका लाभ उठाकर अपनी व्यवस्था कर सके।

एक साधारण मनुष्यको केवल बादल दिखायी देते हैं। परन्तु एक किसानको बादलोंमें वर्षा छिपी हुई दिखायी देती है। मनुष्य जैसे ही कार्यसे निकलकर कारणकी ओर आता जायेगा वैसे ही भ्रान्तिका निवारण होकर क्रान्ति घटित होती चली जायेगी। क्रान्तिका अर्थ है, अपनी ओर लौटना मनुष्यके अन्दर विचार शक्तिका उदय होता है और उसे तत्त्व दृष्टि प्राप्त होती है। तब मनुष्य आभूषण न देखकर सोना देखता है, फर्नीचर न देखकर लकड़ी देखता है और साग सब्जी न देखकर उनमें मिट्टी देखता है। वह आत्मसंशोधन करके इस निर्णयपर पहुँचता है कि 'मैं कौन हूँ? क्या मैं परमात्माके अतिरिक्त अपनी भी सत्ता रखता हूँ? क्या उसके बिना भी मेरा अस्तित्व है या वही सर्वस्व है? इस प्रकार आत्मसंशोधन करते-करते उसकी भ्रान्तिकी ग्रन्थियाँ खुलने लगती हैं। और वह परमात्माको ही करण-कारण जानने लगता है। इस प्रकार अहंकार-निवृत्त होने लगता है। वह एक बालककी तरह अपनी सहज सरल अवस्थामें आ जाता है। वह किसी और जैसा नहीं बनना चाहता। जहाँ है, जैसा है, वैसा वही उसे जानना चाहता है। जाननेकी जिज्ञासा तीव्र

हो जाती है। जिस तरह एक प्यासा पानीके पास जाता है उसी प्रकार ज्ञान-पिपासु भी वीतराग-सन्त-महा-पुरुषोंके पास जिज्ञासा लेकर जाता है। वह श्रद्धासे प्रश्न पूछता है। यही मनुष्यके जीवनमें क्रान्ति है जो उसे सत्यतक पहुँचानेमें सहायक बनती है। मानवमें क्रान्तिके कारण परिवर्तन आ जाता है। संसारसे उसे विरक्ति होने लगती है। संसारके लोगोंमें अब उसकी रुचि नहीं रहती। वह परिस्थितियाँ बदलना नहीं चाहता। जिस परिस्थितिमें है, वहीं प्रसन्न है। यह जीवनकी बड़ी भारी क्रान्ति है, जिससे वह शान्तिका अधिकारी हो जाता है।

शान्ति बाहर नहीं। वह हमारे भीतर है। बाहरकी खोज भटकाव मात्र है। जब कर्ता-भोक्तापन नहीं होता, देहमें अहंभाव नहीं होता, संसारसे अपेक्षा नहीं रहती तो मनुष्यमें सहज ही वैराग्य उतर आता है। ऐसे मनुष्यके हृदयमें शान्ति है। ऐसा मानव विचारोंको और मनकी चंचलताको अपने साक्षित्वमें ले आता है। और उन्हें तटस्थ होकर देखता है। न उनका समर्थन करता है और न विरोध ही। तटस्थ होकर देखने से विचार विलीन होने लगते हैं, मन मौन हो जाता है और मौन होकर शान्त हो जाता है।

असत्यको सत्य जानना, खोटेको खरा जानना साधारण, सांसारिक दृष्टि है, जो भ्रान्ति है। कर्त्ता-भोक्तापनकी निवृत्ति, देहभावकी निवृत्ति और संसारसे कुछ प्राप्त करनेकी आशाकी निवृत्ति क्रान्ति है और वृत्तिकी निवृत्ति ही शान्ति है।

●

जबतक निर्विकल्प होकर दृढ़ चिरकाल तक साधना-पथमें स्थिर नहीं रहता तबतक उसे कोई विशेष उपलब्धि नहीं होती। वैसे तो समझनेवालेके लिए अकस्मात् सत्संग, सद्गुरुकृपा, साधन मार्गका ज्ञान और अपने हृदयमें श्रद्धा विश्वासका उदय भी अपनेमें एक बहुत बड़ी उपलब्धि है, किन्तु यह सब पाकर भी जो आनन्द-बोधसे वञ्चित ही रहा उसके दुर्भाग्यको कौन दूर कर सकता है।

●

हड्डियोंको मुलायम करनेवाला रोग :

रिकेट्स

डॉ. वेदकुमार खरयन्दा
और
डॉ. सत्यप्रकाश

रिकेट्स एक अस्थि रोग है जो छोटे बच्चोंको अपना शिकार बनाता है। छः माससे दो वर्षकी आयुके बच्चे ही साधारणतया इस रोगसे पीड़ित होते हैं। बढ़ती हुई अस्थियोंपर इस रोगका विशेष प्रभाव पड़ता है। इसमें हड्डियाँ टेढ़ी मेढ़ी व मुलायम हो जाती हैं; शरीरमें जोड़ोंके समीप गाँठें पड़ जाती हैं। कुछ बच्चोंमें टेटेनी (कलाई तथा टखनोंका मुड़ जाना) भी हो जाता है। प्रायः रिकेट्सके साथ कुछ अन्य विकार भी देखे जाते हैं जो भोजनमें कुछ विशेष तत्वोंकी कमीके कारण उत्पन्न होते हैं उदाहरणतः अल्परक्तता आदि। रिकेट्सकी जानकारी सर्वप्रथम श्रीगिलीसनने सन् १६५० में दी। १९१८ में श्रीमिलेनबोने बताया कि यह रोग आहारमें किसी विशेष तत्वको कमीके कारण होता हैं। १९२७ में पता चला कि यह 'विशेष तत्व' और कुछ नहीं विटामिन 'डी' है। यह देखा गया है कि अधिकतर रिकेट्स-ग्रस्त रोगी गरीब तबकेके होते हैं जिनके रहनेके मकान ऐसे घनी आबादीवाले क्षेत्रोंमें होते हैं जहाँ सूर्यका प्रकाश नहीं पहुँचता। हमारे अस्पतालमें आनेवाले रिकेट्स रोगियोंमेंसे अधिकांश पिछड़े इलाकोंके ही होते हैं।

रोगके लक्षण

हड्डीके मुलायम हो जानेसे, रिकेट्सके लक्षण एक हदतक पृथ्वीके गुरुत्वाकर्षणपर निर्भर हैं।

बच्चा ६ मासकी आयु तक लेटा रहता है। इसलिए रिकेट्स-पीड़ित बच्चेकी खोपड़ीकी हड्डी आगेसे चपटी हो जाती है। तथा छाती और कूल्हेकी हड्डियाँ (श्रोणि मेखला) भी चपटी हो जाती है। ६ माससे

[रिकेट्स

२ वर्षकी आयुमें रिकेट्सका अधिकतम असर रीढ़की हड्डीपर पड़ता है; पश्च कटिकेशेरुका टेढ़ी हो जाती है। इसे कुब्जता कहते हैं। जब बच्चा चलने लगता है तो रोगग्रस्त टांगकी मुलायम अस्थियां, फीमर व टीबिया, शरीरके वजनसे टेढ़ी होने लगती हैं। फीमर व टीबियाके मुड़नेसे घुटने नजदीक आ जाते हैं और चलनेमें रगड़ खाते हैं या फिर घुटनोंके बीचकी दूरी इतनी अधिक हो जाती है कि चलना दूभर हो जाता है। प्रथम अवस्थाको बहिर्नत जानु (जीनू वेलगस) व द्वितीयको अतर्नत जानु (जीनू वैरस) कहते हैं। इसके अतिरिक्त रोगी शिशु बेचैन व चिढ़चिढ़ा हो जाता है। छातीकी हड्डी चपटी होनेसे फेफड़ोंका आयतन कम हो जाता है परिणामस्वरूप रोगी बालक निमोनियाका शिकार हो जाता है। छातीकी शक्ल कबूतरकी छाती जैसी हो जाती है। परन्तु रिकेट्सका सबसे पहला लक्षण है खोपड़ी-अस्थिका मुलायम होना। इस अवस्थाको क्रेनीयोटेबीज कहते हैं। पेटकी मांसपेशियां कमजोर हो जाती हैं और पेट बाहरको फूल जाता है। बच्चेको इस कमजोरीकी वजहसे किसी भी अवस्थामें लिटाया जा सकता है। इसे 'क्रोवेटिक रिकेट्स' कहते हैं।

रिकेट्स-रोगीके तिल्ली व जिगर भी प्राय: बढ़ जाते हैं। हड्डियोंमें ग्रीन स्टिक फ्रैक्चर (लम्बी हड्डियोंकी लम्बाईमें भंग होना) हो जाते हैं। ह्यूमरस, रेडियस व अल्ना भी वक्र रूप धारण कर लेती है। कलाई व टखनोंके पास गाँठें पड़ जाती हैं। पसलियोंके अगले हिस्सेमें दानेदार गाँठें पड़ जाती हैं जिसे 'रिकेटिक रोजरी' कहते हैं। दाँतोंका निकलना देरसे शुरू होता है। निकलनेपर दांतोंके इनामेलमें छोटे गड्ढे व छाइयां पड़ जाती हैं या इनामेल बनता ही नहीं। रिकेट्स रोग निम्नलिखित चार तत्वोंमेंसे किसी एक अथवा अधिककी कमीके कारण होता है। कैल्सियम फास्फोरस, विटामिन डी, सूर्यका प्रकाश अथवा पराबैंगनी किरणों।

फास्फोरस व कैल्सियमकी कमीसे रीनल रिकेट्स, फास्फेट डाइबिटिज इत्यादि होता है। जिस रिकेट्स विशेष का वर्णन ऊपर किया गया है वह रीनल रिकेट्स आदिसे भिन्न है।

विटामिन-डी की कमी

यह रिकेट्स विटामिन डी व सूर्यके प्रकाशकी कमीसे होता है। विटामिन-डीका कार्य आंतोंको कैल्सियम सोखनेमें मदद करना व रक्तमें इसकी यथेष्ट मात्रा बनाये रखना है। विटामिन-डी की कमीसे कैल्सियम मलके साथ निकल जाता है और कैल्सियमके साथ-साथ फास्फोरस भी निकल जाता है। परिणामस्वरूप

कैल्सियम व फास्फोरसका रक्तमें स्तर कम होता जाता है। यह मात्रा साधारण स्तरके न्यूनतम बिन्दुपर पहुँच जाती है। साधारणतः कैल्सियमकी रक्तमें मात्रा ९.११ मि. ग्रा. प्रति १०० मि. लि व फास्फोरसकी ५ से ६ मि. ग्रा. प्रति १०० मि. लि. रक्त होती है।

विटामिन-डी शरीरमें एन्डोजोनस (आंतरिक) व एक्सोजीनस (बाहरी) रूपमें होता है। आंतरिक विटामिन डी को ७ डिहाइड्रोकोलस्ट्रॉल कहते हैं और वह त्वचामें होता है। २९५ से ३१० एंगस्ट्रामवाली सूर्यकी पराबैंगनी किरणें ७ डिहाइड्रो-कोलस्ट्रॉल को सक्रियित विटामिन डी-३ में बदल देती है। अतः सूर्यकी रोशनीके अभावमें त्वचामें विटामिन डी-३ की कमी हो जाती है और यह कमी रिकेट्सका कारण बनती है। रिकेट्ससे बचावके लिए शरीरको प्रति दिन ४०० यूनिट विटामिन डी की आवश्यकता होती है। एक्सोजीनस (बाहरी) विटामिन डी अगर पूर्ण मात्रामें आहारमें लिया जाये तब भी कुछ रोगोंमें इसका अवशोषण कम हो जाता है। उदाहरणके लिए पित्तवाहिनी नलीके बन्द होने, सीत्यक रोग, अग्याशय रसकी कमी इत्यादि होनेपर विटामिन डी कम मात्रामें अवशोषित होता है। दीर्घ अवधि तक गायका दूध पीने अथवा मांका स्तनपान करनेवाले शिशुओंमें विटामिन डी की कमी हो जाती है, कारण कि इस प्रकारके दूधमें इसका अभाव होता है और परिणामस्वरूप उन्हें इस रोगसे पीड़ित होनेका ज्यादा खतरा रहता है। इसीलिए आजकल पाऊडरवाले दूधमें अतिरिक्त विटामिन डी डाला जाता है। मक्खन, जिगर व अण्डेकी पीली जर्दीमें ८-२० इकाई विटामिन डी प्रति १०० ग्राम होता विटामिन डीकी कमीके दो पूरक प्राकृतिक हैं। कॉड लिवर आयल जिसमें ८५०० यूनिट विटामिन डी तथा हेलीबट लिवर आयल जिसमें ६००००० यूनिट प्रति १०० मि. लि. होता है।

रिकेट्समें शिशुकी कोमलास्थि व अस्थिमें हाइड्रोक्सीएपेटाईट नामक लवणका इकट्ठा होना कम हो जाता है। यह लवण विशेषतः अधिवर्ध (एपिफाइसिस) कोमलास्थिकी मेट्रिक्समें जमा होता है जो कि बढ़ती हुई अस्थिका बढ़नेवाला भाग है। हाइड्रोक्सीएपेटाईटके जमा होनेके लिए रक्तमें कैल्सियम व फास्फोरसकी विशेष मात्राका सन्तुलन आवश्यक है। हाइड्रोक्सीएपेटाईट वास्तव में कैल्सियम व फास्फोरसका ही रूप है। इस प्रकार हाइड्रोक्सीएपेटाईटके जमा न होनेसे हड्डी मुलायम हो जाती है और एपिफाइसिस चौड़ी होकर गाँठका रूप धारण कर लेती है। एक्स-रेमें लम्बी हड्डियोंके सिरे प्यालेकी शक्लके और धुंधले नजर आते हैं।

उपचार

विटामिन-डीके सेवनसे जब रिकेट्स ठीक होने लगता है तो मैट्रिक्समें कैल्सियम जमना शुरू हो जाता है जिसे 'मुलरकी रेखा' कहते हैं। अगर विटामिन डी और सूर्यका प्रकाश यथेष्ट मात्रामें रोगीको दिया जाये तो रिकेट्ससे केवल बचाव नहीं बल्कि इसका उपचार भी हो सकता है।

लेकिन रिकेट्ससे छातीपर जो असर हो चुका होता है वह उपचारके बाद भी वैसा ही रहता है। इसी प्रकार टाँग बाँहकी हड्डी भी टेढ़ी रह जाती है। अतः अस्थि रोग विशेषज्ञ रिकेट्स ठीक होनेके पश्चात् अस्थि-च्छेदन (अस्टियोटॉमी) द्वारा हड्डियोंको सीधा कर देते हैं। रिकेट्समें यदि जल्दी अस्टियोटॉमी करके हड्डी सीधी कर दी जाये तो परिणाम बेहतर होते हैं। वैसे रिकेट्ससे बचनेका एकमात्र व सरलतम उपाय यही है कि शिशुओंके आहारको विटामिन डीसे पूरित किया जाये और रोशनीदार मकानोंमें शिशुओंका लालन-पालन किया जाये।

('विज्ञानकी प्रगति' से साभार)

•

भगवान्‌की दयालुताको ही लिया जाय। जहाँ भक्त भगवान्‌का पूजन करने बैठता है, भगवान् पूजाकी सामग्रीमें कोई कमी होनेपर केवल अर्चकके भावको देखकर ही उसका कल्याण करते हैं। शबरीके बेर, सुदामाके तण्डुल और विदुरकी साग इसके उदाहरण हैं। किन्तु जहाँ भाव नहीं वहाँ केवल क्रियाके आधारपर अनुग्रह कर देते हैं। राक्षसी रुधिराशना पूतनाने भगवान्‌को जिघांसा (मार डालनेकी इच्छा) से स्तन पान कराया। यहाँ भगवान्‌ने स्तन पिलाना ही देखा और पूतनाको माताकी गति दे दी; भाव जिघांसाकी ओर देखा तक नहीं।

•

AN ANALYSIS OF WORLDLY PLEASURE AND PAIN

Swami Akhandananda Saraswatiji Maharaj

1. Is pleasure a mere absence of pain ? If so, the question arises : What is pain then ? Is pain a mere absence of pleasure ? By "a mere absence" we mean non-existence (Abhava). If both pleasure and pain are non-existences, how shall one non-existence be recognised as pleasure and the other as pain ? Without separately characterising pleasure and pain, their negations cannot be distinguished. Therefore, it is necessary to analyse separately the concepts of pleasure and pain.

If at all pleasure and pain were non-existences, the universal experience of an individual, viz., 'I am happy; I am miserable' would be contradicted, and the natural desire in man for pleasure and a natural aversion for pain would also remain unexplained. Therefore, pleasure and pains are existent entities, and their analysis is both necessary and useful.

2. Not Only every human being but an ordinary creature like an insect or a worm also feels pleasure and pain in his or her heart. Pleasure and pain are immediate experiences. 'I am happy' and 'I am miserable'—these are experiences pertaining to the witness only, i. e., these experiences are cognised directly by the witness (Sakshi) without any external means of knowledge. Pleasure and pain are not experienced by direct

perception like a jar or a piece of cloth; and for this reason they are not subject to inference which is based on perception. The other means of knowledge e. g comparison, presumption etc. also are of little avail in getting pleasure and pain known. This is the reason why these selfevident entities, namely pleasure and pain are not refuted by these means of knowledge and at the same time they retain their existence beyong any pale of suspicion.

3. Pleasure and pain are not akin to external objects. External objects usually fall under three categories :—

(1) Agreeable objects like flowers, sandal-paste etc.

(2) Disagreeable objects like, snake, scorpion, thorns etc.

(3) Indifferent objects like the nipple hanging down from the neck of a she-goat.

The lovability, unlovability or indiffere-nce in there objects is due to the differentiations of VASANA (the innate desire to enjoy or hate). By practice and perseverance, some people convert the lovable into the unlovable and vice-versa, and transform the cause of pain into the cause of pleasure and vice-versa. A particular person or a thing which is lovable for one is hateful for the other. It follows that pleasure and pain cannot be regulated in man and matter. The fate of events and actions is no better. For example the devotees of god wish to be born again and again and undergo misery only to have a direct perception of Him and serve Him.

All these objects are extraneous to the body, whereas pleasure and pain are inside. Therefore it is a folly to regard material objects, their existences or non-existences, persons, events and actions as pleasure and pain. Although pleasure

and pain do find expression through these agencies, yet they are altogether different from and independent of them. For, even though, at night or in a secluded place, the external objects may be absent, yet pleasure and pain may arise through rememberance of imaginary objects. Another dissimilarity is that whereas the external objects continue to exist even when they cease to be objects of an individual's consciousness, pleasure and pain no longer exist from the moment they are lost from consciousness.

4. Internal objects like desire, aversion and hatred etc. are such that they exist only if know in consciousness and become non-existent if unknow in consciousness. But pleasure and pain are beyond them also. This much is common to them that they exist in consciousness and do not exist outside it, in other words they don't have an unknow existence (Ajnatasatta). But the difference is that the objects of desire and aversion are separate. "To desire" and "To hate" are transitive verbs requiring 'objects' to complete their senses. But 'to be happy' and 'to be misrable' are phrases complete in their sense and require no 'objects'.

Truly speaking, desire and aversion are not the resultant modifications of mind although they are the results of past impressions. Desire seeks pleasure and aversion tries to avert pain. Thus the objects of desire and aversion are pleasure and pain which therefore, are the resultant modifications of mind.

These objects which are seemingly the causes of pleasure and pain are through ignorance; identified with pleasure and pain and become objects of desire and aversion, This superimposition leads to the formation of impressions which in turn

produce] desire and aversion again, This cycle goes on unbroken until the ignorance is completely annihilated.

5. Pleasure and pain, although dissimilar to the internal objects like desire and aversion, are nevertheless not consciousness or knowledge (Jnana). In fact, they are objects of consciousness; they are known. But consciousness itself is never the object of itself. Just as a burning lamp does not require another lamp to reveal it, in the same way one consciousness does not need another consciousness to know it. Consciousness is self-luminous and selfknowledge requiring no other testimony. On the other hand, what other means of knowledge would testify to the existence or otherwise of consciousness when it is only in the presence of consciousness that all the valid instruments of knowledge proceed to testify the other ? It is for this reason that the great philosophies like Vedanta and Purvamimansa have not accepted the principle of the knowledge of consciousness. However, philosophies like Nyaya do hold that the Principle of knowledge of knowledge (consciousness) must be upheld, for otherwise, they argue, how will the difference between true knowledge and fales knowledge be established ? This argument is weak, because the difference between true and fales lies in the object of knowledge and never in the consciousness (knowledge) itself. The illuminated object may be true or false but the light that illuminates cannot be false.

Therefore in a situation like this when the knowledge of consciousness is not possible, it is admitted on all hands that pleasure and pain are known, their rise and dissolution are known and their differentiability is also known. Nay, the means of getting pleasure and removing pain are also known

through past experience or scriptural authority. From this we conclude that pleasure and pain are different from knowledge or consciousness.

6. A close examination would reveal that all bodies of all species in this world differ from one-another in one respect or the other, be it in their figure or nature, in powers of the physique, senses or the mind, in their inclination or the food they consume and so on. Why this difference after all ? Every creature whose mind entertains pleasure-value or pain-value with regard to an object is endowed with the necessary power also in its body to enjoy or keep off that object. This is the reason for the difference in the formation of horns, teeth, hands, legs etc. When we view things in this perspective we find that Vasana (the desire to enjoy or repulse) is the root of all diversities in the entire universe. Besides; it is also observed that the entire behaviour of every creature is directed towards acquiring pleasure and wording off pain. If pleasure and pain were not the rootal motivations of human behaviour, the entire activity in the world would disappear.

What is this world ? Only the enjoyment of pleasure or pain.

Who is worldly ? The enjoyer of pleasure and pain.

Who is God (The Ishwara) ? The bestower of pleasure and pain.

Who is the enemy ? One who impedes pleasure and is a source of pain.

Who is the friend ? One who helps eliminate pain and is a source of pleasure.

It follows that the entire world is only an extension of pleasure and pain.

7. It has already been said that pleasure and pain are mutually contradictory existent entities. They are not negations of each other and that their positive existence is immediately cognised in the minds of all creatures. There is unambiguous contradiction like light and darkness between the two experiences : 'I am happy' and 'I am miserable'. In addition to this, whereas pleasure is the object of unconditioned and uncaused desires, pain is the object of unconditioned and uncaused. hatred (To explain :) The question as to why we want pleasure and not pain simply does not arise. No-where does a person first decide why he wants pleasure or does not want pain and then proceed to acquire pleasure or avert pain ! It is also well known that absence of pain also, like pleasure, is an object of desire. Similarly, absence of pleasure, like pain, is an object of aversion. For this very reason the desire for painlessness and an aversion for pleasurelessness is unconditioned. Whe-ther pleasure is obtained from the acquisition of money, enjoyment and religious merit or from the renunciation there of, does not matter. We do not want to condition our pleasure with these adjuncts. What is of importance is that we must have pleasure by any means. We WANT pleasure whether we get it from projecting our senses or from their withdrawal, whether from atruggle or from peace, whether in the crowd or in seclusion. Exactly in the same way, we wish to be saved from pain and pleasurelessness whether we succeed in it by acquisition of wealth or its denial, by enjoyment or its denial, by religion or its denial, by activity of senses or their withdrawal, by peace or by strife. We are prepared to accept any situation but we must be saved from pain. Ironi-

cally enough, this natural impulse for pleasure and pain sometimes pushes ignorant and unwary persons into such paths where they go to seek pleasure but get pain and where they seek painlessness but get all the more pain. Instinctive desires and aversions are blind and their sole motivation is past impressions. They have to be trained and streamlined, and for this, wise guidance and counselling is necessary.

8. That when, where and on whom will these instinctive pleasure and pain flowing with the beginningless current of impressions, be superimposed and make one happy or miserable is difficult to predict, for the current of impressions is rotted in ignorance, difficult to be categorised and eternally flowing as a flux. So the system of education and training has been prescribed in the practical world.

It would have been futile to learn from and get training under mature minds and erudite well-wishers, had it not been intentioned to tell the blessed path of pleasure and to save from the cursed path of pein, In that case, wherever, whenever and in whatsoever object a person conceived the pleasure he would have started hearing, describing, collecting and enjoy'ng that object. He would have acted similarly in order to remove misery. Then would abound in life unrestricted collection of material objects, unrestricted enjoyment, unrestricted actions leading to injustice, unrestricted hearing and unrestricted descriptions.

However, for the attainment of pleasure and elimination of pain, there is required a regulated system which meets the approbation of mature minds and their behaviour, involves sound physical health in the interest of the welfare of the individual and the society, is pleasing to the mind and

safeguards the interests of life here and hereafter. Can we leave our wordly conduct to the sole charge of indisciplined reign of desires and aversions ? In all periods of History, no order has been able to survive without proper controls and prescribed norms. The controller of order is called Dharma (the Law) and the shatterer of order is called Adharma (the violation of the Law). Dharma is the cause of pleasure and Adharma is the cause of pain.

9. The analysis brought out so far enables us to conclude that pleasure and pain are existent entities and that the desire for pleasure and aversion for pain are natural. If pleasure and pain were not existent objects and were non-existent like sky-flowers, the desire for the acquisition of pleasure and aversion of pain would not have been there; nor the corresponding action would have been present. At the same time, if these existing pleasure and pain were self-truths like the Atma (Self) and were not attainable through effort, there should not have been any necessity of prescribing any do's and dont's in this connection. Moreover, if the frame-work of action aimed at securing pleasure and shearing pain were not definite, even then there was no need to prescribe the do's and dont's. The fact however is that pleasure is sweet and desired whereas pain is bitter and hated. Therefore both the attainment of living pleasure and the reducing of pain to nought require efforts. And just as pleasure and pain are perennial in the world current, in the same way their means of acquisition and elimination are perennial. It follows that the characteristics of Dharma and Adharma and their valid means of knowledge are also perennial.

10. If the difference between pleasure and pain had not

existed if the desires of achieving or averting them were not perennial and if the world-current had not flown perpetually like hunger and thirst, then the do's and dont's also, in relation to Dharma and Adharma, would not have been perennial like food and drink. The four Vadas, their six Ancillaries (Angas) Puranas, Itihas (History), Nyaya, Mimamsa, Dharma-Shatra (the scriptures of conduct), right conduct and self-satisfaction etc. etc—have been the basis of deciding the true form of Dharma in this world; and this tradition has been coming down to us from the times immemorial. Had the pleasure and pain and their means been not well-defined, all these scriptures and worldly conduct would have been reduced to nullity. In fact, pleasure and pain are the only such realities of life as compel us to obtain the true knowledge of Dharma and Adharma and having saved us from the path of decline good us to the path of progress and perfection.

11 No intelligent man can go on speaking out or go on doing, enjoying or collecting whatever crosses his mind. If he does so, he would be regarded insane. The mind is stuffed with innumerable, unconscious and beginningless Vasanas. Which of them and where, when and how, would surface up, is not definitely known. The question of regulation of Vasanas arises only after they have risen up. Before their coming up to the surface they are not even known and so how can the question of their regulation arise ?

After Vasanas have arisen, two points must be borne in mind. Firstly, this must be ascertained through the intellect whether the Vasana that has arisen is proper or improper, according to the Dharma or not and conducive to our well-being or not. Secondly it must be decided (employing the

will-power through the intellect) if that particular Vasana is worth translation into action or it must be destroyed through the paths of opposition, sublimation or tranquillisation.

Some Vasanas have little potency; they appear like a dream in the Vista of imagination and die out by mere indifference. However, some are quite strong. They should be dealt with discrimination in order to turn them to advantage. Pleasure and pain are the fruits of Dharma and Adharma respectively. Therefore, Dharma must be practised consciously and willfully to reap the fruits of pleasure, and the conduct which is not according to Dhama and which is born of indiscretion and impulses of Vasana must be avoided to keep off pain. This is the key to pleasure and pain.

12. There are three main paths in order to gain control over Vasanas:

(i) The path of opposition : Let not improper Vasanas be translated into action. This means that forbidden acts must not be performed, but this is not enough. The Vasanas do not obey order, particularly the negative orders. They need some positive discipline also together with a negative one. That discipline consists of morning-evening prayers, sacrifices (yajnas) alms (Daan), Vows (Vrat) etc etc. in conformity with the Scriptures. This is the external form of Dharma.

(ii) The path of sublimation : Here the Vasanas are directed to move along some path of internal Sadhana (discipline) where they are chemicalised and transformed. This is not merely a positive path of opposition but a mixed course of lovabiltity and obedience. Visualise the objects of your Vasanas, namely the sound, the touch, the beauty, the taste, the smell, the virtues, the importance, the respect, the fame

and so on, in your Beloved Lord of Lords who is seated in your heart. Think of Him with the relevant attributes and take delight in Him alone. You would get within you what you would have have sought outside ! When your Vasana is fulfilled within your heart, why go out ? The worships of God with form and attiributes set at rest all Vasanas throught the path of sublimation.

The path of Dharma is the path of opposition, but the opposition is accordingly to the Law (the Dharma) and not according to the Vasanas, The path of worship is the path of sublimation. Here the worships do not oppose the Vasanas; they make them sublime by first isolating them from external objects and external currents and thereafter purifying them.

(iii) The path of Tranquillisation : The vasanas make their impulses felt only in the activised state of mind. If the activ.ty of the mind itself is suspended through the path of yoga. the Vasanas Won't arise and the problem itself whether or not to translate a particular Vasana into action will be extinct. The Yoga does not disturb the Vasanas at all, it tranquillises the very seat of vasanas that is the mind.

Dharma eliminates Adharma thrcugh action, upasanas (Worships) do it by tranformation of Vasanas and the Yoga does it by the placidity of mind. The elimination of adharma leads to the elimination of pain, and the performance of Dharma produces pleasure. The Sadhana of Dharma is outer, that of Upasana is inner and that of the Yoga is innermost. But all the three types of pleasure produced by these Sadhanas—namely the worldly and other worldly pleasure produced

by Dharma, the divine pleasure produced by worship and the pleasure of Samadhi produced by the Yoga—are creations of effort.

13. The pleasure and pain that are experienced in this world or hereafter are born of Dharma and Adharma, and being creations they are ephemeral—notwithstanding their sources which may be enjoyment, imagination of the mind, pride or habit. The Nyaya-Vaisheshikas hold that Dharma-Adharma and pleasure-pain are attributes of the Atma (the self). The Upasakas (Worshippers) hold that when in the course of worship the modifications of mind are emptied of all objects except the Deity with whom the mind becomes one, the pleasure of the Deity is reflected in that mind. The primary source of pleasure is the Deity and the Secondary source of pleasure is the soul, the Jivatma. The Bliss has found complete expression in the Deity and the same is experienced as pleasure in the state of uuification of mind with the Deity. In the Yoga pleasure is experienced upto the stage of Tripartition (Triputi) only, where the consciousness of the 'Seer', 'Seen' and 'seing' remains intact. Anandangat Samadhi : i. e. the Samadhi of the mind as a result of meditation on I—ness, there is no tripartition of the enjoyer and the enjoyed and so there is no pleasure. In the Asamprajnat Samadhi i. e. the Samadhi in which the division of the enjoyer and enjoyed ceases to exist, any talk of pleasure is meaningless. After one has discriminated Parush and Prakriti according to Samkhya Philosophy, the knower alone exists as consciousness only. In the Kaivalya state (the state of being of the Purusha) there is no experience of anything at all including the world the God and other "seers." Even pleasure is not there but at the

same time there is no pain either. The seer is saddled in its own pristine glory..

In this way, pleasure and pain are creations in all the three systems and so are ephemeral, So long as the cause lasts, the effect also remains. So long as Dharma remains, its effect, the worldly pleasure also remains. So long as the unifying modification of the mind remains, the pleasure due to Deity remains. So long as Samprajnat Samadhi lasts the pleasure due to habit also lasts. So much so that even the Lord (Ishwara), the bestower of pleasure and pain, can be the cause of pleasure and pain only to the extent of and relatively to the individual's Dharma and Adharma, Vasana and Worship, and Sweet and Bitter modifications of the mind, God cannot be the unrelated cause of pleasure and pain—So says the Vedanta.

14. From the stand-point of Vedanta, worldly pleasure is the fruit of action. But the real pleasure is Bliss which is the nature of Sachhidanandaghan Atma (the self which is undifferntiated existence--knowledge--Bliss). This Bliss is never attained by any effort or discipline; it is self-attained. Whatever is acquired through effort is short-lived. The self-luminous Blissful nature of the Self (Atma) appears to be unacquired due to Ignorance. Whatever is unacquired through ignorance is actually not unacquired and whatever is acquired through knowledge is also not unacquired; it is acquired already and for all times. Vedanta only annihilates ignorance. The self characterised by the annihilation of ignorance is verily the indestructible perfect non-dual Brahma which is the Bliss. The thought of ignorance itself is in the state of ignorance, ia reality there is no ignorance.

The practice of Dharma, worship or Yoga in a spirit of detachment and dedication without recourse to fruits of actions or as a service to the Lord purifies the heart. This leads the acquisition of merit by the Seeker of Truth who is thereafter bestowed with a sincere desire to know. Consequently Brahma-Vidya (the science of the knowledge of Brahma) comes to him and with possession of this Vidya nothing remains for him which he must do by way of duty or which he must acquire, know or renounce. Verily, this is the Brahmisthiti (the state of Brahmanhood); this is the Jeewan Mukti (Liberation even while living), the highest state of being for which the seeker after truth must aspire This state of Brahmanhood, as viewed from the standpoint of the aspirants for their highest upliftment, finds expression in the body of the Great Liberated Souls. This Brahmi-Sthiti is the pleasure par-excellence and Bliss Absolute.

(Translated by —"VISHNU")

चित्तह्लादि व्यसनविमुखं शोकतापापनोदि
यज्ञोत्पादि श्रवणसुखदं न्यायमार्गानुयायि।
तथ्यं पथ्यं व्यपगतमदं सार्थकं मुक्तवादं
यो निर्दोषं रचयति वचस्तं बुधाः सन्तमाहुः॥

विद्वान् पुरुष उसे सन्त कहते हैं जिसकी वचन-रचनामें यह बारह गुण हों—

१. चित्तको आनन्दप्रफुल्ल करे।
२. व्यसनकी प्रवृत्तिसे रहित हो और रहित करे।
३. शोक एवं तापको मिटा दे।
४. यज्ञ, सेवा, सत्संग, धर्मानुष्ठानमें रुचि बढ़ाये।
५. उसका अर्थ समझें या न समझें, श्रवणमात्रसे सुख दे।
६. न्यायपथके अनुकूल हो।
७. वास्तविकताके अनुरूप हो।
८. सबके लिए हितकारी हो।
९. अभिमानकी अभिव्यञ्जना न करती हो।
१०. उसका अर्थ स्पष्ट और प्रयोजनकी पूर्तिमें उपयुक्त हो।
११. वाद-विवादसे सर्वथा निर्मुक्त हो।
१२. भाषा, भाव, समय आदिको दृष्टिसे निर्दोष हो।

•

अं यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्दात्मा यत्परं ब्रह्म भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥

—श्रीरामोत्तरतापिन्युपनिषत्

लालजीमल टीकाराम

हाथरस

फोन नं० : १२९ तार : GANESH

●

शाखाएं :

कटरा लेहस्वा, चाँदनी चौक

दिल्ली-६

फोन नं० : २६६९६४ फोन नं० घर : २२८१३७

तार : RAMAPATI

●

दुकान नं० : ९६

तीसरी गली, मङ्गलदास मार्केट

बम्बई-२

फोन नं० : ३२१०९५० फोन नं० घर : २९००८१

तार : KAUSHLESH

तुलसी-मानस-प्रकाशनकी उपलब्धियाँ

—हरिकिशनदास अग्रवाल द्वारा लिखित—

संक्षिप्तरूपमें आधुनिक ढंगसे आध्यात्मिकताकी ओर प्रेरित करनेवाली जीवनोपयोगी पुस्तकें :—

१. **संसारका सार** (हिन्दीमें) : आधुनिक साधनों द्वारा अध्यात्म शिक्षा ३—००, २. **ज्ञान-साधना** : ज्ञानसाधनाके प्रति संकेत २—००, ३. **विज्ञानसे ज्ञान** : आधुनिक उदाहरणों द्वारा आध्यात्मिक विद्याका प्रसार १—००, ४. **वेदान्त नवनीत** : महात्माओंके प्रवचनोंका सार १—५०, ५. **वेदान्तका सरल बोध** : वेदान्त, बड़े ही सरल उदाहरणोंमें १—००, ६. **आध्यात्मिक पिक्टोरियल** (हिन्दी व अंग्रेजी) : ज्ञान सूत्र तथा चित्र द्वारा प्रस्तुत ४—००स ७. **आध्यात्मिक चित्रावली** (हिन्दी-इंगलिश) पाकेट बुक : सचित्र द-वंसाधारणके लिए आध्यात्मिक ज्ञान ६—००, ८. **मुमुक्षु** : रोचक तथा शिक्षाप्र' उपन्यास ५—००, ९. **मनकी शान्ति** (पद्य) : अंग्रेजी 'पीस ऑफ माइण्ड का हिन्दी अनुवाद ४—००, १०. **हमारी परम्परा** : क्रिकेट और ताश द्वारा अध्यात्मकी नवयुवकों तक पहुँच २—००, ११. **आराम सुख शान्ति और आनन्द** : जैसा नाम वैसा गुण ०—५०, १२. **अपनी ओर इशारा** : अपनी ओर आनेके सूत्ररूप इशारे १—००, १३. **व्यावहारिक जीवन और परमात्मा** : व्यवहार परमात्मिलनमें बाधक नहीं, स्पष्टता १—००, १४. **श्मशान यात्रा** : जीवनयात्राका अन्तिम चरण ०—५०, १५. **मेरे १०८ गुरु** : क्षण-क्षण व कण-कणसे नूतन ज्ञान ३—००, १६. **सजगता** : पल-पल अविरल वर्तमानमें सजग जीवन १—००, १७. **अविरोध-निरोध और स्वबोध** : अविरोधसे मनका निरोध और निरुद्ध मनमें स्वबोध २—००, १८. **वेदान्तका वैज्ञानिक मनन** : वैज्ञानिक दृष्टांतों द्वारा वेदान्तका मनन २—००, १९. **चिन्ता और निश्चिन्तता** : चिन्तासे पार उतरनेके सरल सूत्र २—००, २०. **मनके पार** : विकट प्रश्नों पर आचार्यश्री रजनीशजीके उत्तर १—००, २१. **घर-घरकी समस्या** (प्रेसमें) : घरलू दैनिक विकट समस्याओंका समाधान २—०० २२. **पीस ऑफ माइण्ड**(अंग्रेजीमें): अंग्रेजीमें सूत्ररूप से आध्यात्मिक सरल ज्ञान ३—००, २३. **क्वायटर मोमेण्ट्स** : (अंग्रेजीमें) : मौनके क्षणोंमें लिखे सूत्ररूप अंग्रेजी-सूक्त २—००, २४. **मनन योग्य बातें** : १—००, २५. **'मनन' आध्यात्मिक मासिक** : मनन करने योग्य पत्र : वार्षिक शुल्क: ४—००, २६. **जाग्रत-जाग्रत** : जीवन जागृतिके लिए ०—५०, २७. **उनके सान्निध्यमें** : एक महापुरुषके रहस्योंका उद्घाटन २—००, २८. **जाग रे जाग**: ब्रह्मलीन परमहंस स्वामी निर्मलजीके रहस्यमयी प्रवचनोंका संकलन ४—०० ।

ग्राहक एवं एजेण्ट्स, पत्र-व्यवहार करें

तुलसी-मानस-प्रकाशन

अन्तर्गत विभाग केवल मार्केटिंग कम्पनी,

गुप्ता मिल्स स्टेट, रे रोड,

बम्बई—१०
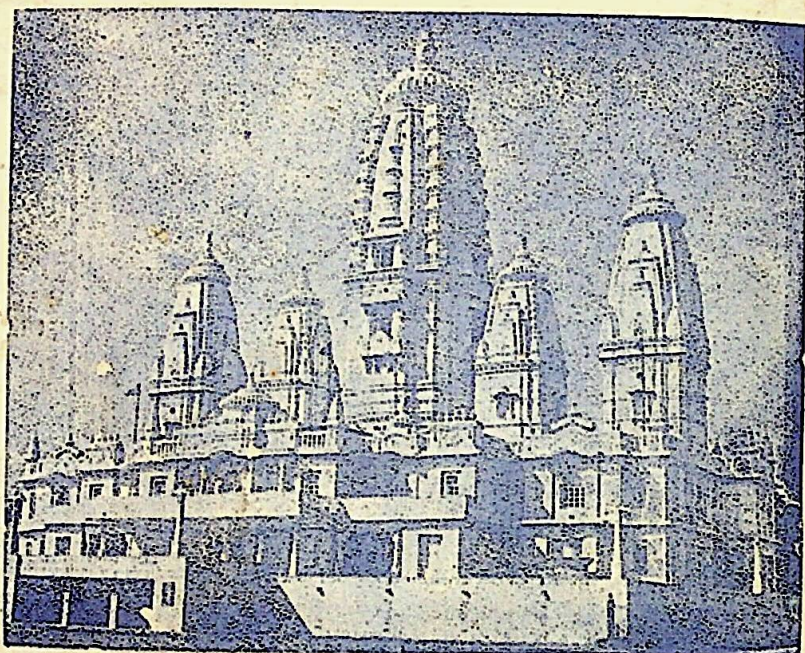
सत्साहित्य-प्रकाशनट्रस्ट, बम्बईके लिए विश्वम्भरनाथ द्विवेदी द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित तथा आनन्दकानन प्रेस, सीके. ३६/२० वाराणसीसे मुद्रित।